हमारे बच्चे

लेखक,
मन्तराम *B. A.*

होश्यारपुर
विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल

प्रथम संस्करण , २००७ (1950)

प्रकाशक,

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान मुद्रण

व प्रकाशन मंडल, होश्यारपुर

श्री टीका राम गुप्त, अलीगढ़

आप विश्वेश्वरानंद वैदिक संस्थान के प्रमुख प्रेमी और सहायक है।

आप के हृदय में भारतीय संस्कृति व साहित्य के प्रति

भक्ति भरी है। आप की इस उत्तम भावना के

उपलक्ष्य में यह ग्रन्थ आप के समादरार्थ

प्रकाशित हुआ है। इस के द्वारा

आप की पुण्य कीर्ति सदा

बढ़ती रहे

सर्वदानंद विश्व ग्रंथमाला—५

श्री टीका राम गुरु

विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन
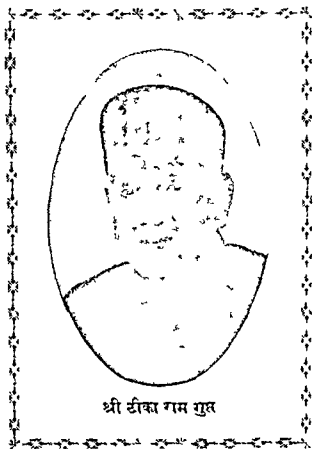
संपादकीय

१. माला-नायक का परिचय

स्वर्गीय श्री स्वामी *सर्वदानंद* जी महाराज, जिनका पहला घर का नाम श्री चन्दुलाल था, का जन्म पजाब के होश्यारपुर नगर के दक्षिण मे कोई पांच कोस पर बसे हुए, *बड़ी बसी* नाम के उपनगर मे सं० १६१६ में हुआ था। आपके पूर्वजों मे अनेक उच्च कोटि के वैद्य और योग्य विद्वान् हो चुके थे। आपके दादा श्री सवाईराम *काश्मीर* के थे। परन्तु वह बाल्य-अवस्था मे ही *बड़ी बसी* के इस कुल मे आ कर इसी के हो गए थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहां से बारह कोस पर *हरियाना* उपनगर के वर्नैकुलर मिडल स्कूल मे हुई थी। आप में छोटी अवस्था से ही धार्मिक रुचि तथा साधु-सन्तों के सत्संग मे प्रीति पाई जाती थी। इसी लिये जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पीछे आप की गृहिणी प्रसूता होकर बीत गई, तब फिर आप अधिक चिर तक घर पर नहीं रहे और विरक्त अवस्था मे विचरने लग गए। सं० १६५३ के लगभग आप को भारतीय नव-युग के प्रथम प्रवर्तक, श्री स्वामी *दयानन्द* जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ *सत्यार्थ-प्रकाश* के पाठ का सुअवसर मिला। इससे आप मे लोक-सेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिर-मति होकर, सद्विचार और निष्काम कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं० १६६६ मे निर्वाण पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर उसे निबाहा। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त, दरिद्र-नारायण के

उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परमहँस थे। आप सदा सभी के बन कर रहे और कभी किसी दल-बंदी मे नहीं पड़े। आप जहा अच्छा कार्य होता देखते थे, वहीं अपनी प्रीति-निर्झरी प्रवाहित कर देते थे।

२. 'स्मारक' का इतिहास

श्री स्वामी जी महाराज *विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान* के आदिम *पुण्यनिक्षेपधारी* तथा *कार्यकारी* सदस्यों मे से थे और आपने आजीवन इसे अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपका देहान्त हो जाने पर *संस्थान* ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर *साहित्य-विभाग* के रूप में आपका *स्मारक* स्थापित किया जाये। उक्त विभाग सरल, स्थायी, सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आप के जीवन के ऊंचे व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा मे लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहां तक पहुँचा ही था, कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट मे आ गया, सारी भारत-मातृक जनता के साथ ही *संस्थान* भी लाहौर को छोड़ने के लिए विवश हो गया। उसी गड़-बड़ मे इसे पांच लाख रुपए की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तभी से यह अपने पॉव, नये सिरे से, जमाने मे लगा हुआ है। पुनः प्रतिष्ठा नव-विधान से भी कहीं कड़ी होती है। इसीलिए यह अभी तक अपनी स्थिति को पूरी तरह संभाल नहीं पाया। परन्तु इस वर्ष के आरम्भ मे समारब्ध हरिद्वार कुम्भ के महापर्व ने सिर पर आ कर, मानो ऐसी चेतावनी दी कि, और कार्य तो भले ही कुछ देर

से भी हो जावे, परन्तु यह *स्मारक* का चिरसकल्पित कार्य इस शुभ अवसर पर अवश्य आरम्भ हो जाना चाहिए। इस *माला* का जैसे-तैसे किया गया प्रारम्भ उसी चेतावनी का फल था। साथ ही, यह भी अतीव उचित घटना घटी, कि इस सन्त स्मारक माला का प्रारम्भ संत-वर स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती की *ब्रह्म विद्या* नाम की अमर रचना द्वारा हुआ। इस बीच में उक्त ग्रन्थ-रत्न के तीन आंशिक अनुमुद्रण भी अध्यात्म-दर्शन, आत्म पथ और कर्मयोग, ये तीन अलग ग्रन्थों के रूप में इस *माला* में निकल चुके हैं। हमारे इस कार्य में, निश्चय ही, अभी अनेक दोष रह रहे हैं, पर इसमें हमारी वर्तमान भीडा का ही विशेष अपराध है। अवश्य, समय पाकर, यह कार्य हमारी हार्दिक श्रद्धा के अनुरूप हो सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

३. माला का क्षेत्र

विश्वभर का विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव ही इस *माला* का विशालतम क्षेत्र होगा। पर, फिर भी, क्षमता की सीमा को दृष्टि में रखते हुए, हमारे प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी रहेगी, और इनका मुख्य आधार भारतीय संस्कृति और साहित्य होगा। इनमें अपने पूर्वजों की दाय-रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई रचनाओं को भी पर्याप्त प्रवेश मिलेगा। इसी प्रकार, इनमें देश, विदेश की उत्तम रचनाओं के उत्तम अनुवादों आदि का भी विशेष स्थान रहेगा।

४. परामर्श-समिति

इस 'माला' के क्षेत्र की विशालता और विविधता को

देखते हुए ही इसके सम्पादन कार्य में आवश्यक परामर्श की प्राप्ति द्वारा इस विश्व-हितकारी कार्य को सफल बनाने के भाव से 'परामर्श समिति' की योजना की गई है। देश के भिन्न-भिन्न भागों के प्रसिद्ध, सिद्धहस्त साहित्य-सेवियों ने इस 'समिति' की 'सदस्यता' स्वीकार की है—यह बात, अवश्य, इस कार्य के गौरव का प्रमाण, और, साथ ही इसके भावी विकास की अग्रिम सूचना समझनी चाहिए।

५. उपस्थित ग्रन्थ

श्री संत राम जी, बी. ए. हमारे देश, विशेषतः, प्रदेश के प्रसिद्ध, सिद्धहस्त साहित्यसेवी और क्रान्तिवादी समाज-सुधारक हैं। यह ग्रन्थ आपकी ही अनुभव-वाटिका के कुसुम-रस से आसावित होता हुआ आप की ही लचकीली लेखनी की सहज-सुन्दर सृष्टि है। ऐसी उत्तम वस्तु के संपादन में हमें स्वभावतः अतिश्रम नहीं करना पड़ा। परन्तु, यह फिर भी जो थोड़ा-बहुत अदल-बदल करना पड़ा है, उसके लिए हमें योग्य लेखक का परामर्श सुलभ होता रहा है—इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

६. संस्थान-सहयोग

श्री देवदत्त व श्री *ब्रह्मदत्त* ने संपादन-कार्य में और शोधपत्र ठीक करने में, तथा छापा वा जिल्दबंदी विभाग के प्रबन्धक श्री *रेवतराम* और अन्य कर्मिष्ठों ने पुस्तक को सुन्दर रूप में समय पर तैयार कर देने में पर्याप्त परिश्रम किया है। इस सराहनीय सहयोग के लिए हम इन सब का धन्यवाद करते हैं।

विश्वबंधु शास्त्री

हमारे बच्चे

श्री सन्त राम B. A.

उपोद्घात

इस समय संसार में जीवन-संग्राम बड़ा घोर रूप धारण कर रहा है। प्रत्येक राष्ट्र इस में विजय-लाभ करने के लिए भर-सक यत्न कर रहा है। वह इस संग्राम में लड़ने वाले सैनिकों—अपने बालकों—की रक्षा और शिक्षा में पूर्ण योग दे रहा है। बालक आज किसी व्यक्ति विशेष की निजी संपत्ति न रह कर समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति माना जाने लगा है। अमेरिका प्रभृति उन्नत देशों में शिशु के मातृ-गर्भ में प्रवेश करने के समय से लेकर—वह शिशु चाहे किसी धनी का हो और चाहे किसी कंगाल का—उस के बड़े हो कर जीवन-संग्राम में भाग लेने के समय तक उस के पालन-पोषण और रक्षण-शिक्षण का सारा भार राष्ट्र ने अपने ऊपर ले रखा है। वहाँ पाठशालाओं में लड़कियों को ऐसी शिक्षा दी जाती है जिस से वे सुगृहिणियाँ एवं सुमाताएँ बन कर बालकों का रक्षण और शिक्षण उत्तम रीति से कर सकें। कारण यह है कि उन लोगों ने बालक के राष्ट्रीय मूल्य को भली भाँति समझ लिया है। वे जानते हैं कि बच्चों की रक्षा और शिक्षा की उपेक्षा करने से राष्ट्र का अधःपतन हो जायगा और उन्हें शीघ्र ही शरीर तथा चरित्र में बलवान दूसरे राष्ट्रों के दास बनना पड़ेगा। उन देशों में बालकों की शिक्षा के लिए नित्य नई उन्नत एवं संशोधित पद्धतियाँ निकाली जाती हैं; परीक्षण होते हैं और देश के भावी नागरिकों के शरीर तथा चरित्र को दृढ़ तथा उच्च करने का प्रयत्न किया जाता है। पर असभ्य एवं पतित देश अपने बच्चों की शिक्षा के विषय में आँखें बंद किए पड़े हैं। उन्हें अपने बालकों के चरित्र-गठन की कुछ भी चिन्ता नहीं। इसी कारण उन्हें परतंत्रता का दारुण दुःख भोगना

पड़ता है। किसी देश के सभ्य या असभ्य होने की पहचान ही यह है कि वह अपने बालकों की शिक्षा को कितना महत्त्व देता है। हमें ऐसा यत्न करना चाहिए जिस से हमारी सन्तान के शरीर और मन हमारी अपेक्षा अधिक बलिष्ट और सुसंस्कृत हों। यदि हमारी अगली पीढ़ी प्रत्येक बात में हम से बढ़िया न हो तो समझो कि हम ने अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन नहीं किया।

जीवन-सोपान में कोई प्राणी जितने उच्चपद पर आरूढ़ है उस के बच्चे के लिए उतनी ही अधिक शिक्षा की आवश्यकता है। सब से निचले दरजे के जीवों को माता-पिता द्वारा रक्षा की कुछ भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन का जन्म और जीवन वनस्पति के सदृश होता है। परन्तु प्राणियों में मन का कार्य ज्यों-ज्यों अधिक होता जाता है त्यों-त्यों वह जीव जन्म-समय पर अधिक अपूर्ण और जीवन-संग्राम के अधिक अयोग्य होता चला जाता है। सब प्राण-धारियों की अपेक्षा मनुष्य को रक्षा और शिक्षा की अधिक आवश्यकता है, जिस से वह शैशव-काल की कोमल अवस्था में जीवित रह सके और जीवन की भारी-भारी माँगों को पूरा करने के लिए भली भाँति तैयार हो जाय।

हीरा एक अमूल्य रत्न है सही, पर उस का मूल्य तभी होता है जब वह अनेक बार कट कर एक सुन्दर आकृति धारण करता है। यही बात मनुष्य के बच्चे की है। निर्दोष शिक्षा और उत्तम संस्कारों द्वारा मनुष्य तत्त्वदर्शी महर्षि बन जाता है और कुशिक्षा एवं कुसंस्कारों से वह महा नीच और पिशाच हो जाता है। हमारे आर्य ऋषि बालकों की शिक्षा और संस्कारों के महत्त्व को खूब समझते थे। गर्भाधान से ले कर संन्यास पर्यन्त जितने संस्कार हैं वे सब मनुष्य के शरीर तथा आत्मा को उन्नत करने के उद्देश्य से ही बनाए गये हैं। 'मातृमान्

पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद', इस छोटे से वाक्य में ही प्रातः-स्मरणीय ऋषियों ने शिशु-शिक्षा का सारा रहस्य भर दिया है।

बालकों की यथार्थ शिक्षा के लिए माता, पिता, अध्यापक और अध्यापिका को शिशु-प्रकृति का ज्ञान होना परम आवश्यक है। जो व्यक्ति बालकों की प्रकृति से अनभिज्ञ है, जिसे बालकों के मानस-शास्त्र का ज्ञान नहीं वह कभी अच्छा शिक्षक नहीं बन सकता। पर कितने खेद का विषय है कि आज इस देश में १०० में से ६५ लोग बालकों की प्रकृति तथा मानस-शास्त्र का कुछ भी ज्ञान प्राप्त किए बिना ही माता-पिता और अध्यापक बन रहे हैं। वे मारने पीटने के सिवा बालक को शिक्षा देने का कोई दूसरा साधन जानते ही नहीं। यही कारण है कि देश में शिक्षा पूर्ण रूप से फलीभूत नहीं हो रही है।

माता-पिता को शिशु-प्रकृति का ज्ञान न होने के कारण ही आज हमारे देश की अनेक गृहस्थियाँ स्वर्ग के स्थान में नरक बन रही है। प्रातः काल से ही बच्चों की खट-पट आरम्भ हो जाती है। सारा घर रोने-पीटने और चीत्कार से गूँजने लगता है। "तू मर जाय", "तुझे गोली लगे", तेरा बेड़ा डूबे" इत्यादि अशुभ शब्द सवेरे से ही सुनाई देने लगते हैं। माँ-बाप तंग आकर बच्चों को लुचा, बदमाश, गधा, राँड, सिरमुँडी, और चुड़ैल प्रभृति शब्द कहते है। किसी घर में बालकों की देह मार-मार कर सुजा दी जाती है, तो किसी में लड़का डंडा लिए माँ या बहन के पीछे दौड़ता दीख पड़ता है। किसी घर मे बालक बिल्ली से चूहे की भाँति माँ-बाप से भयभीत रहते हैं तो कहीं उन के दुष्ट स्वभाव से माँ-बाप का दम नाक में आ रहा है।

इस पुस्तक के लिखने का मेरा प्रयोजन यही है कि जिन भाइयां और बहनों ने माता-पिता अथवा अध्यापक-अध्यापिका के पवित्र धर्म

को धारण किया है, अथवा जो इसे धारण करने का विचार रखते हैं, उन के लिए यह एक गुटके का काम दे और वे इस की सहायता से अपने घरों और पाठशालाओं को सुख धाम बना सकें। इस में केवल कल्पनात्मक ही नहीं, वरन् बहुत सी व्यावहारिक बातें भी दी गई हैं। ये बातें, थोड़े से हेर-फेर के साथ, प्रत्येक स्वभाव के बालक पर प्रयुक्त हो सकती हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि माता-पिता और शिक्षक लोग, अपने बालकों के प्रति मंगल कामना से प्रेरित होकर, इस पुस्तक में दिए हुए उपदेश रूपी बीजों को अपनी हृदय वाटिका में रोपेंगे, तो वे अंकुरित हो कर एक दिन विशाल वृक्षों, सुन्दर सुमनों और रसीले फलों का रूप धारण कर लेंगे।

यदि इस पुस्तक को पढ़कर एक भी माता पिता के मन में अपनी सन्तान की शिक्षा पर ध्यान देने का विचार उत्पन्न हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूँगा।

पुरानी बसी,
होशयारपुर

सन्त राम

विषय-सूची

पहला खण्ड

दूसरा खण्ड

(जन्म से लेकर ढाई वर्ष की आयु तक)

तीसरा खण्ड

ढाई वर्ष की आयु से लेकर सात वर्ष की आयु तक

चौथा खण्ड

सात वर्ष से लेकर इक्कीस वर्ष की आयु तक

प्रशंसा की प्रधानता-१७३-२००

पाँचवाँ खण्ड

इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर आगे तक

आत्म-निर्देश २०१-२२२

परिशिष्ट

पहला खण्ड

सामान्य समस्याएँ

शिक्षा कब आरम्भ होनी चाहिए

जन्म के समय बच्चे की आत्मा संसार में कागज की भाँति बिलकुल कोरी नहीं आती। अपने पूर्वजों, विशेषतः माता-पिता की अच्छी और बुरी प्रवृत्तियाँ उस में गुप्तरूप से विद्यमान रहती हैं। कहा भी है—

अङ्गादङ्गात् सम्भ सि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥

निरुक्त । ३, ४, २६.

और— आत्मा वै जायते पुत्रः ।

अर्थात् शिशु का शरीर माता-पिता के प्रत्येक अंग से बने रज और वीर्य से और उसकी आत्मा उनकी आत्मा से उत्पन्न होती है। इसलिए जिन स्त्री-पुरुषों का शरीर दुर्बल एवं रोगी है, जिनका चरित्र पापमय और दूषित है, उनकी सन्तान के बलवान् और सच्चरित्र होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। शिक्षा का काम शिशु की आत्मा में बीज रूप से विद्यमान उत्तम प्रवृत्तियों को उत्तेजित करना और बुरी प्रवृत्तियों को दबाकर उनको जड़ से उखाड़ डालने का प्रयत्न करना है। इस से बढ़ कर वह कुछ नहीं कर सकती। इसलिए बालक की शिक्षा का आरम्भ उसके जन्म से बहुत पहले होना चाहिए। जो माता पिता उत्तम सन्तान चाहते हैं, उनको गर्भाधान से

बहुत पहले अपने आप को अच्छा बनाना और उन सद्गुणों को धारण करना चाहिए, जो वे अपनी सन्तान में देखना चाहते हैं। बालक को केवल माता-पिता की ही नहीं, वरन् दादा-परदादा, दादी-परदादी, नाना परनाना और नानी-परनानी की भी अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों का दाय-भाग मिलता है। इसी लिए एक विद्वान् ने, पूछने पर, कहा था कि बच्चे की शिक्षा उसके जन्म से सौ वर्ष पूर्व से आरम्भ होनी चाहिए। जो बालक पहले से ही बुरे संस्कार लेकर उत्पन्न हुआ है उस पर उत्तम से उत्तम शिक्षा का भी सन्तोष-जनक परिणाम नहीं होता। देखिए, जो बालक जन्म से रोगी और दुर्बल होते हैं उनका स्वास्थ्य अपने जीवन-काल में, विशेष रूप से तन्दुरुस्ती का ध्यान रखने पर भी, जन्म से नीरोग और बलवान् बालकों के समान उत्तम नहीं हो सकता। जो बच्चे माता-पिता से उत्तम एवं नीरोग शरीर पाकर अपने बाल्य काल में नीरोग रहते हैं, युवावस्था में खान-पान एवं आचार-व्यवहार में थोड़ी बहुत गड़बड़ी और अव्यवस्था हो जाने पर भी उनका स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता।

जो लोग जन्म से पूर्व बालक की शिक्षा आरम्भ न कर सके हों, उन्हें भी हताश होने की आवश्यकता नहीं। उन्हें बालक के जन्म के साथ ही उसकी शिक्षा आरम्भ कर देनी चाहिए। यदि वे बचपन में भी सोए पड़े रहेंगे और शिशु की यथोचित शिक्षा पर ध्यान न देंगे, तो बड़ी आयु में लाख उद्योग

करने पर भी बालक की यह कमी यथोचित रूप से कभी पूरी न हो सकेगी। प्रत्येक कर्म के लिए चरित्र-बल की आवश्यकता है। बड़ी होकर लड़की जब स्त्री और लड़का जब पुरुष बनता है तब उन्हें अनेक कर्म करने पड़ते हैं। अब यदि उनमें इस बल का अभाव होगा तो फिर बहुत यत्न करने से थोड़ा और थोड़े यत्न से शून्य ही लाभ होगा। इसलिए बालकों को कम से कम जन्म-काल से तो अवश्य ही सदाचार की शिक्षा मिलना आरम्भ हो जाना चाहिए। बड़ी आयु में बालक अपने आप अच्छे स्वभाव और सदाचार की बातें सीख लेंगे, यह समझ कर बाल्य-काल में उनकी शिक्षा पर कुछ ध्यान न देने से बाद को पछताना पड़ता है और वही बात होती है—

अब पछताए होत का जब चिड़ियां चुग गईं खेत।

बालक की शक्तियों का क्रमिक विकास

बालक के शरीर एवं आत्मा की शक्तियों का विकास एक दम नहीं होता। वे एक नियमित क्रम से एक दूसरे के पीछे प्रकट होती हैं। हाथ की मुट्ठी को मुँह तक ले जाने के लिए ही शिशु को कई सप्ताह तक यत्न करना पड़ता है। फिर बोलने की शक्ति का विकास तो जन्म से कई वर्ष पीछे होता है। इसी प्रकार खड़े होने और तर्क करने की शक्तियाँ भी विशेष अवधि के अनन्तर ही प्रकट होती हैं। इसलिए हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि किस अवस्था में बालक की किस शक्ति का विकास होता है। तभी हम उसकी शिक्षा पर यथोचित रूप से ध्यान दे सकेंगे। हमें अपने शिशु की जन्म-सिद्ध क्षमताओं और शक्तियों को भी भली भाँति जानना चाहिए, क्योंकि बालकों की क्षमताएँ भिन्न भिन्न होने के कारण उनकी शिक्षा एक ही ढग पर नहीं हो सकती। इस के अतिरिक्त हमें अपने लक्ष्य और साधनों का भी अच्छा ज्ञान रहना चाहिए। तभी बालक की शिक्षा में जो नैतिक समस्याएँ उपस्थित होंगी उनके हल करने में हम इस ज्ञान की सहायता से सफल हो सकेंगे।

मेरे एक परिचित सज्जन हैं। वे एक पाठशाला में अध्यापक हैं। उनकी स्त्री का देहान्त हो चुका है। उनका एक

सात वर्ष का एकलौता पुत्र है। वह एक स्कूल की दूसरी कक्षा में उर्दू पढ़ता है। उसका शरीर, कदाचित् माता के देहान्त से भोजन का अच्छा प्रबंध न होने के कारण, बहुत दुबला है। अध्यापक महाशय अपना संस्कृत, अँगरेज़ी, हिन्दी और गणित, का सारा उपार्जित ज्ञान उस दुर्बलकाय बालक में एकदम भर देना चाहते हैं। स्कूल से घर पहुँचते ही वे उसे ले बैठते हैं और तीन चार घंटे तक बराबर नेलसन रीडर और उपनिषद् रटाते हैं। लड़का दूसरी कक्षा में पढ़ता है, पर आप उसे चौथी कक्षा का गणित सिखाते हैं। बालक का मन जब तनिक उचाट होता है और पिताजी की शिक्षा पर उसका मनोयोग नहीं रहता तो वे झट उसके मुँह पर दो थप्पड़ जमा देते हैं। वे उसे दूसरे बालकों के साथ खेलने भी नहीं देते कि वह उन से बुरी बातें सीख लेगा। इस, सारे शासन का कुफल यह हुआ है कि पढ़ने से बालक को सर्वथा अरुचि हो गई है। दूसरी कक्षा में भी वह नहीं चल सकता और उसके हृदय में पढ़ने का इतना डर बैठ गया है कि उसने स्कूल जाना ही छोड़ दिया है। उसका मस्तिष्क इतना थक गया है और उस का मन इतना उदास हो गया है कि अब उसे एक सरल सी बात समझना भी कठिन जान पड़ता है और मार पीट का उस पर कुछ भी परिणाम नहीं होता। वह पिता को कसाई समझता और दूर से आते देख कर ही भाग जाता है और फिर रात तक घर नहीं आता।

इसी प्रकार एक बड़े श्रीमान् के पोते की दशा देखने में आई। शिशु अभी मुश्किल से बात करना सीखा था कि सरदार साहब ने उसे घर की वस्तुओं के अँगरेजी नाम सिखलाना आरम्भ कर दिया। इस से नन्हे से मस्तिष्क पर भारी बोझ आ पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि लड़का जन्मभर के लिए उच्च शिक्षा से वंचित रह गया।

उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में बुफल का कारण शिशु-प्रकृति से अनभिज्ञता और लक्ष्य का अभाव है। यदि हमें इस बात का ज्ञान हो कि अमुक आयु में बालक इतनी उन्नति कर सकता है और उस से हम इन बातों के सीखने की आशा कर सकते हैं तो हमें अपने प्रयत्नों में कभी निराशा न हो। अव्यवस्थित शिक्षा का परिणाम कभी आशाजनक नहीं हो सकता। रोग उसी का दूर होता है जो जम कर चिकित्सा कराता है। एक दिन औषध खा लिया और फिर चार दिन छोड़ दिया, इस से कभी लाभ नहीं हो सकता। लक्ष्यहीन शिक्षा में जितनी चिन्ता और मनस्ताप होता है, सुव्यवस्थित शिक्षा के लिए दृढ़तापूर्वक यत्न करने में उस से बहुत कम उद्वेग होता है। उदाहरणार्थ, जब बच्चे बहुत तंग करते हैं तब माता पिता थक कर अथवा कलह से बचने के लिए बच्चों के आगे सिर झुका देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बालक अपनी बात मनवाने के लिए तंग करने और रोने को ही अपना मुख्य साधन बना लेता है। आप बहुतेरे ऐसे

माता-पिता देखेंगे जो यद्यपि बच्चों के हठ के सामने सदा सिर झुका देते हैं, पर फिर भी उनका मन अशान्त रहता है। साथ ही बालक भी, यथार्थ संयम और उचित पथ-दर्शन न होने के कारण, बहुत कम सुखी रहता है। इस लिए पहले खूब सोच-समझ कर शिक्षा की एक युक्ति-सिद्ध कल्पना तैयार कर लेनी चाहिए और फिर उस कल्पना पर दृढतापूर्वक चलना चाहिए। इस से सब बाधाएँ और कठिनाइयाँ पूर्णरूप से दूर हो जाती हैं* ।

उपर्युक्त कल्पना को ग्रहण करने से केवल आरम्भ में ही बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ होंगी और कभी-कभी आप पर भारी आयास भी पड़ेगा। परन्तु इस आयास को सहना आवश्यक है। यदि माता पिता का स्वास्थ्य अच्छा हो तो यह आयास कम हो जाता है। अपने बालकों या दूसरों के बालकों से प्राप्त किया हुआ अनुभव उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता देता है। केवल आरम्भ में ही आपको कष्ट होगा, क्योंकि फिर आपके बच्चे, विनीत और सुशिक्षित बालकों के सदृश, आप को तंग होने का बहुत कम अवसर देंगे। चाहे आपके बालक

---

* रोग अथवा ऐसी ही दूसरी अस्थायी अवस्थाओं में बालक के हठ करने पर माता-पिता के कभी-कभी ढीले हो जाने से कोई हानि नहीं।

असाधारण रूप से भी हठीले क्यों न हों, तो भी आपको कभी आपे से बाहर न हो जाना चाहिए। कारण यह है कि "छोटे बालकों की स्वाभाविक और प्रचण्ड कार्य-शक्ति को दबाना कदापि उचित नहीं है।"

बालक की शिक्षा का कोई लक्ष्य होना चाहिए

यदि कोई मनुष्य चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए बिना ही रोगियों की चिकित्सा करने लगे और कोई व्यक्ति इञ्जन चलाने की विद्या जाने बिना ही इञ्जन चलाने लगे, तो आप सब उस की मूर्खता और धृष्टता पर हँसेंगे। पर हम में से कितने ऐसे लोग हैं जो विवाह करने के पहले बच्चों के रक्षण और शिक्षण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं? क्या यह खेद और आश्चर्य का विषय नहीं कि नहरें खोदने और मकान बनाने के लिए तो हम नियमपूर्वक शिक्षा पा कर इञ्जीनियर बनना आवश्यक समझें, पर सन्तान के शरीर को बलिष्ठ और आत्मा को सुसंस्कृत करने की विद्या सीखे बिना ही माता-पिता बन जायँ?

सन्तान के निमित्त माता-पिता को बहुत कुछ त्याग करना पड़ता है। उन्हें अपनी इन्द्रियों को लगाम देनी पड़ती है। जो लोग सन्तान के लिये जीने का निश्चय नहीं कर सकते, वे माता-पिता बनने के कदापि अधिकारी नहीं। बच्चे कोई गुड़िया नहीं हैं। इसलिए उन्हें अपने खेल-तमाशे के लिए खिलौने नहीं समझना चाहिए। वे हमारे हाथ में पवित्र धरोहर हैं। शिशु के जन्म के साथ माता-पिता के कर्तव्य बहुत बढ़ जाते हैं। उन

कर्तव्यों के पालन के लिए न केवल विशेष परिश्रम और चौकसी की आवश्यकता है, वरन् भारी बुद्धिमत्ता और दूर दर्शिता की भी अपेक्षा है।

सन्तानों को शिक्षा देना जो एक कर्तव्य ठहराया गया है उस का स्वयं माता पिता पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ता है। इस में तनिक भी झूठ नहीं कि मनुष्यता का पाठ पढाने वाली सब से बड़ी शिक्षिका बच्चों की विद्यमानता है। पंजाब में कहावत है कि पुत्री का जन्म हो जाने पर बड़े बड़े गुण्डों की भी पगड़ियाँ सीधी हो जाती हैं। कारण यह कि बालकों को शिक्षा देने की आवश्यकता होती है। यदि कहा जाय कि माता पिता को शिक्षा सन्तानों से होती है, तो इस में रत्ती भर भी झूठ न होगा। हम कह सकते है कि जिस स्त्री या पुरुष ने सब कर्तव्यों से उत्तम कर्तव्य अर्थात् बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण का भार नहीं उठाया, वह कभी मानसिक तथा नैतिक प्रौढता को प्राप्त नहीं हो सकता। सच पूछिए तो लोगों को उच्च से उच्च सभ्यता और उत्तम शिक्षा घर, स्कूल या धर्म मन्दिर से नहीं, वरन् स्वयं अपने ही बच्चों से प्राप्त होती है। यदि दुर्भाग्य से कोई व्यक्ति सन्तानहीन है तो उसे अपने मनोभावों को सुसंस्कृत करने में इस त्रुटि के कारण बहुत कष्ट सहन करने पड़ते। इसी लिए कहा जाता है कि सन्तानहीन व्यक्ति को मरने के पश्चात् सद्गति नहीं मिलती।

सन्तान का होना ईश्वर की एक भारी कृपा है। माता-पिता को इस से असीम आनन्द प्राप्त होता है—

> अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
> आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥

पर यह समझना कि यह आनन्द केवल बच्चे उत्पन्न करने और बंदर के सदृश अपनी ही सन्तति पर प्रेम करने से प्राप्त होता है, एक भारी भूल है। माता पिता को यह आनन्द अपनी अनेक वस्तुएँ दे कर मोल लेना पड़ता है। उन्हें अनेक प्रकार की चिन्ताएँ अपने ऊपर लेनी पड़ती हैं, अनेक प्रकार के स्वार्थ त्याग करने पड़ते हैं और उन के लिए दूर तक देखने वाली परिणाम-दृष्टि प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

माता पिता को इस बात का ज्ञान अवश्य रहना चाहिए कि हम अपने बच्चों को क्या बनाना चाहते हैं। उन्हें यह भी विदित होना चाहिए कि शिक्षा शिशु के जन्म के पूर्व से, या कम से कम जन्मकाल से ही आरम्भ हो जानी चाहिए। बहुत से लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते। इस का फल यह होता है कि जब बच्चा संसार में आता है तब वे आश्चर्यान्वित हो उसे एक चमत्कार समझने लगते हैं। पहले से शिक्षा का कोई आदर्श बनाया न होने के कारण, उस समय उतावली और घबराहट में जैसा कुछ सूझता है, उसी के अनुसार उस नव-जात शिशु को शिक्षा देना आरम्भ कर देते हैं।

बालक को एक चमत्कार समझने के साथ तीन भाव और भी मिले रहते हैं। पहला भाव तो यह है कि "बालक एक खिलौना और मनोरञ्जन की सामग्री" समझा जाता है। जैसे बंदरों और रीछों की विचित्र चेष्टाएँ देखकर प्रसन्न होने के लिए हम उन्हें रोटी या मिठाई देते हैं, वैसे ही बालक का तमाशा देखने के लिए हम उसे बिगाड़ देते हैं। हाँ, जहां तक बालक पर बुरा प्रभाव न पड़े, वहां तक थोड़ी सी निर्दोष हँसी कर लेने में कोई हानि नहीं। पर बच्चे को दिल्लगी की सामग्री या शिकार बना डालना बहुत ही हानिकारक है।

दूसरे, बालक को करुणा का पात्र समझा जाता है। बालक की अशक्तता पर दया दिखाई जाती है और इस कारण उसे मनमानी करने दी जाती है, ताकि वह रोए और चिल्लाए नहीं। समवेदना और सहानुभूति चाहे ऊपर से कैसी ही अच्छी क्यों न दिखाई दे, पर इस में कुछ भी संदेह नहीं कि बच्चे की इस से भारी हानि होती है। नैतिक दृष्टि से इस का परिणाम बहुत ही भयानक होता है।

तीसरे, रोने और व्याकुल होने पर बालक को दण्ड देने और उस की निन्दा करने की बात माता-पिता को छोड़ देनी चाहिए। इस के बदले उन्हें उस के रोने के कारण ढूँढ़ने का यत्न करना चाहिए।

माता-पिता के सामने ये लक्ष्य होने चाहिएँ—

(क) उन का प्यार बच्चे को बिगाड़ देने वाला हानिकारक प्यार न हो, वरन् बुद्धिमत्ता का प्यार हो, जिस से बालक का कल्याण हो।

(ख) बच्चों के साथ व्यवहार में कभी कठोरता और झिझ-लाहट न होनी चाहिए।

(ग) उन्नतिशील प्रकृति का उच्च सामाजिक, नागरिक और वैयक्तिक आदर्श सदा उन के सामने रहे; और—

(घ) इस आदर्श को वे दृढ़ता, प्रेम, शान्ति, प्रफुल्लता, शिष्टता और सुविज्ञता-पूर्ण दृष्टि से और बच्चों को युक्तियुक्त काम दे कर पूरा करें।

माता-पिता खिलाइयाँ, और धाय

बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल होती है। उन पर पड़ने वाले संस्कारों से उनका चरित्र बनता है। प्रत्येक अनुभव—अपने से बड़े लोगों, माता पिता, धाइयों, विशेषतः बड़े भाइयों तथा बहनों और साधारणतः सर्व परिचित जनों की चाल ढाल, आचार-विचार एवं रहन-सहन का अवलोकन—बालक के चरित्र गठन पर भारी प्रभाव डालता है। बाल्य-काल में बच्चे की आत्मा पर जो अच्छे या बुरे संस्कार पड़ते हैं, वे प्रायः अमिट होते हैं और आयु पर्यन्त बने रहते हैं।

दर्पण में दिखाई देने वाले मुख के सदृश, सन्तान स्वयं माता पिता का और शिष्य गुरु का प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब का सुन्दर या असुन्दर होना देखने वाले के मुख पर निर्भर करता है। माता पिता की कोई चेष्टा सन्तान से छिपी नहीं रहती। जो कुछ माता-पिता और अध्यापक कहते और करते हैं, जो भूल उनसे होती है, जो उदाहरण वे प्रतिष्ठित करते हैं, वह उनके सौंपी हुई नन्हीं-नन्हीं आत्माओं पर ज्यों का त्यों अंकित हो जाता है और सदा के लिए बना रहता है। पर खेद का विषय है कि इस सिद्धान्त पर बहुत थोड़े लोग ध्यान देते हैं। एकाधिक बार बड़े बड़े विद्वानों और

धर्मशीलों की सन्तान को दुराचारी देखकर हमें आश्चर्य होता है। पर यदि हम गहरी दृष्टि से देखेंगे तो हमें इस में भी उन्हीं का दोष दिखाई देगा। मैं एक ऐसे वृद्ध सज्जन को जानता हूँ जो बड़े कर्म-काण्डी हैं, दोनों काल अग्निहोत्र और सन्ध्योपासना करते हैं, परोपकार और धर्म के कार्यों में भी अच्छा भाग लेते हैं, परन्तु दुर्भाग्य से उनकी सारी सन्तान व्यभिचारिणी हो गई है। मेरे एक मित्र ने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने साफ साफ कह दिया कि युवावस्था में मैं स्वयं व्यभिचारी रहा हूँ, उसी समय की यह मेरी सन्तान है, यह व्यभिचारिणी न हो तो और क्या हो? इस से पाठक समझ सकते हैं कि हम लोगों को माता-पिता बनने के पूर्व अपने आप को सुधारने की कितनी भारी आवश्यकता है।

सन्तानों को सुशिक्षित बनाने में जितना काम माता कर सकती है उतना और दूसरा नहीं कर सकता। कहा भी है—

"नास्ति वेदात् परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरु।"

अर्थात् वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं और माता के समान कोई गुरु नहीं। जितनी देर तक बच्चे को माता के साथ रहने का अवसर मिलता है उतनी देर पिता के साथ रहने का नहीं मिलता। परन्तु हमारे देश में पहले तो पढ़ी लिखी माताएँ ही आटे में नमक के समान हैं। फिर जो हैं भी, उनमें बहुत थोड़ी ऐसी हैं जिन्होंने पाँचवीं कक्षा से आगे पढ़ा हो। इस

पर देश का दुर्भाग्य यह है कि लड़कियों को ऐसी अशुद्ध और स्वास्थ्य-नाशक रीति से शिक्षा दी जाती है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ माता बनने के योग्य नहीं रह जातीं। प्रायः पहले ही प्रसव के साथ उनकी जीवन-ज्योति बुझ जाती है। इस का अर्थ यह न समझ लेना चाहिए कि कन्याओं को उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं। उच्च शिक्षा के बिना माता सन्तान को जीवन-संग्राम के लिए कैसे तैयार कर सकती है? जिन बातों का उसे आप ही ज्ञान नहीं उनका ज्ञान वह सन्तान को कैसे करा सकती है? इस में केवल पद्धति के सुधारने की आवश्यकता है।

बच्चों की शिक्षा में कठोर शासन से काम लेना आपत्ति-जनक है। इससे उनकी तर्क, स्मरण और कल्पना की शक्तियों का विकास होने नहीं पाता और किसी आदर्श को मन में बैठाने का विचार नहीं आता। कठोर शासन से केवल आचार-सिद्ध स्वभाव एवं वृत्तियों ही विकसित होती हैं। माता के पवित्र और दिव्य प्रेम द्वारा ही बालक को सच्ची शिक्षा मिल सकती है। फिर यदि यह मातृ-प्रेम शिक्षा और अनुभव द्वारा सुसंस्कृत किया गया हो तो उसकी शक्ति अनन्त गुना और बढ़ जाती है।"

धनाढ्य लोग अपने बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा प्रायः अशिक्षित खिलाई दाइयों पर छोड़ देते हैं। इन खिलाइयों को

अपने कर्तव्य कर्म की पवित्रता का अणु मात्र भी विचार नहीं होता और वे नहीं जानती कि बच्चों के साथ यथोचित व्यवहार क्या होता है ? धायें नियत करने मे बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए । माता के लिए आवश्यक है कि धाय की सब समय आप देख-रेख करती रहे । धाय माता की सहायक मात्र हो । वह माता का स्थान कदापि न लेने पावे । निरक्षरा खिलाइयों और आचरण हीन नौकरों के साथ रहने से ही धनियों के बच्चे प्रायः बिगड़ जाते हैं।

हमारे स्कूलों और पाठशालाओं की दशा भी बड़ी शोचनीय है। प्रायः इधर-उधर के प्रायमरी और मिडल पास निकम्मे एवं अनाड़ी छोकरों को नन्हे नन्हे बच्चों के पढ़ाने का काम दे दिया जाता है। इन लोगों को न तो बच्चों की प्रकृति का कुछ ज्ञान होता है और न ये अपने कर्तव्य की महत्ता का ही अनुभव करते हैं। बड़े बड़े बुड्ढे अध्यापक स्कूल में गालियाँ बकते देखे जाते हैं। पर जिन देशों को अपने बालकों तथा अपने राष्ट्र की भलाई का ध्यान है, वहाँ यह अवस्था नहीं। स्विटज़र-लैण्ड के अन्तर्गत बासिल में आज किसी ऐसे व्यक्ति को अध्यापक या अध्यापिका बनने की आज्ञा नहीं जिसने एक विशेष समय तक विश्वविद्यालय में शिक्षा न पाई हो और जिस ने कालेज में मनो-विज्ञान का अध्ययन न किया हो। हमारे यहाँ नये ढंग के स्कूलो और क्या पुरानी पाठशालाओं, टोलों और मसजिदों में ऐसे ऐसे अयोग्य और मानस शास्त्र के ज्ञान

से शून्य हृदयहीन लोग नन्हे-नन्हे बालकों को पढ़ाया करते हैं, जो शिक्षा का एक मात्र साधन, बात-बात पर निर्दय होकर बच्चे को मारना और पीटना, ही जानते हैं। शिक्षा-शास्त्र के ज्ञान से शून्य माता-पिता भी इन से यही कहते हैं कि अध्यापक जी, इस बच्चे के प्राण हमारे और शरीर आपका है; खूब मार-मार कर पढ़ाइए, केवल प्राण छोड़ दीजिए, बाकी चाहे इसकी बोटी-बोटी उड़ा दीजिए। कैसी भयानक अज्ञानता है !

इसलिए इन पांच बातों का होना आवश्यक है—

(क) माता-पिता आरम्भ से ही अच्छे सुशिक्षित हों।

(ख) गृह-शिक्षा की कला को उन्नत किया जाय।

(ग) माता और पिता, दोनों को ही संसार का अनुभव हो और उन्होंने गृह शिक्षा अर्थात् घर पर अपने दृष्टान्त तथा उपदेश द्वारा बच्चों को शिक्षा देने की कला को भली भाँति सीखा हो।

(घ) खिलाइयाँ तथा धाय यथार्थ रूप से सुशिक्षिता हों।

(ङ) छोटे बच्चों के लिए कोई ऐसा अध्यापक न रखा जाय जिसने विश्व-विद्यालय की शिक्षा न पाई हो, जिसने कालेज में मनो-विज्ञान का अध्ययन न किया हो और जिसे शिक्षा के कार्य से प्रेम न हो।

वालक के सामने परस्पर विरोधी उदाहरण न रक्खे जायँ

माता, पिता, धाय, खिलाई और अध्यापक द्वारा प्रतिष्ठित उदाहरणों में सादृश्य अवश्य होना चाहिए। परन्तु खेद का विषय है कि यह बात बहुत कम देखने में आती है। माता, पिता, खिलाई और अध्यापक के विचार और रीतियाँ, उन की शिक्षा के अनुसार, एक दूसरे से भिन्न-भिन्न होते हैं। वे बालक के सामने एक दूसरे के विपरीत उदाहरण उपस्थित करते हैं। बेचारे बालक के लिए कठिन हो जाता है कि उन में से किस को अपने लिए आदर्श बनाए। बच्चा एक दूसरे बच्चे को मारता है या उस का खिलौना तोड़ देता है। पिता इस पर उसे डाँट बतलाता है। वह रोता हुआ माँ के पास चला जाता है। माँ प्यार से उसे चुप कराने लगती है और पिता से कहती है कि आप को इसे दुत्कारना नहीं चाहिए था। बालक देखता है कि मेरे जिस कर्म की पिता निन्दा करता है माता उसे बुरा नहीं समझती। इस लिए उसे पता नहीं लगता कि किसी को पीटना अथवा दूसरे का खिलौना तोड़ना बुरा काम है या अच्छा। बच्चा किसी की वाटिका से आम तोड़ लाता है। माता प्रसन्न होकर कहती है बहुत अच्छा किया, आज इन की

चटनी बनायंगे। पिता बालक को इस चोरी के लिए डाटता है। वह फिर माता की शरण लेता है। माता पुत्र का पक्ष लेकर पिता से झगड़ने लगती है। ऐसी अवस्था में बालक के सामने दो परस्पर विरोधी आदर्श होते हैं और उसे पता नहीं लगता कि उन में से किस को ग्रहण करे। यही अवस्था अध्यापकों और खिलाइयों की है। एक अध्यापक एक काम को अच्छा बताता है। उस के बदल जाने पर जो नया आता है वह उसे ही बुरा ठहराने लगता है। खिलाई झूठ और कपट से अपना काम निकालती है और माता पिता सचाई का उपदेश देते हैं। माँ जादू टोना करती है और पिता सत्यार्थ प्रकाश की कथा सुनाता है। इस गड़बड़ से बड़ी हानि होती है। इसके अतिरिक्त माता पिता का आचार शास्त्र समय समय पर बदलता रहता है। कभी वे एक बात को अच्छा कहते हैं और फिर दूसरे समय में उसी के विरुद्ध आचरण करने लगते हैं। इस से बालक और भी भ्रम में पड़ जाता है। माता पिता को इस कठिनाई को समझना चाहिए। उन्हें इस बात का भरसक यत्न करना चाहिए कि अविरुद्ध भाव से एक ही नीति का प्रयोग किया जाय। नौकरों और खिलाइयों को भी उन्हीं नैतिक नियमों से काम लेने का आदेश होना चाहिए। जिस काम से पिता बच्चे को रोके, माता को भी चाहिए कि उस में अपने पति की ही पुष्टि करे, बालक को पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए कभी उत्तेजना न दे। जिस कर्म को माता बुरा

कहे, पिता भी उसे बुरा ठहराए।

माता पिता यदि आपस में परामर्श करके बच्चों के लिए कोई शिक्षा-संबन्धी कल्पना तैयार कर लें, अथवा अपने पथ-दर्शन के लिए कोई विशेष नियम बना रखें, तो बहुत अच्छा हो। इस से एक बड़ा लाभ यह भी होगा कि दम्पती का आपस का संबंध बहुत कुछ सुधर जायगा।

बड़े और छोटे बालक

यदि आप के एक ही बच्चा है तो यद्यपि उस दूसरे साथी बालकों के न होने से बहुत कुछ हानि सहनी पड़ेगी तो भी आप कम से कम एक जटिलता से बच जायेंगे। किन्तु अधिक सम्भव यही है कि आप के एक से अधिक बालक हैं। इस अवस्था में बच्चों के एक दूसरे का अनुकरण करने की भारी सम्भावना है।

सब से छोटे बालक को अपने से एक या दो वर्ष बड़े भाई का अनुकरण करते देखना एक बड़ा ही मनोरञ्जक दृश्य होता है। बड़ा भाई जो काम करता है छोटा भी वही करना चाहता है। वह उस के कामों की प्रशंसा करता है। कोई पाँच वर्ष की आयु तक बालक को आगे बढ़ने की उत्तेजना इसी रीति से मिलती है। पांच वर्ष के उपरान्त उसकी बुद्धि के अधिक विकसित हो जाने से, वह इस दासवत् अनुकरण की रीति को छोड़ देता है।

बच्चों में एक दूसरे का अनुकरण करने का स्वभाव विशेष रूप से प्रबल होता है। यदि आपने अपने सब से बड़े बालक को यथोचित रूप से सधा लिया है, तो फिर आप का छोटे

बच्चों को सधाने का काम बहुत सरल हो जायगा। आप के बड़े बच्चे छोटों को अपने आप सधा लेंगे। वे उन के सामने ऐसे उदाहरण प्रतिष्ठित करेंगे जो भली भाँति उन की समझ में आ जायँगे और जिन का अनुकरण करने की वे इच्छा करेंगे। इसलिए आप को अपने बड़े बालक पर दूना परिश्रम करना चाहिए; क्योंकि उस के पीछे जन्म लेने वाले बच्चों पर उस के आचरण का भारी प्रभाव पड़ेगा। आप अपनी बड़ी सन्तान को ऐसी रीति से सधाइए जिस से वह आप की अगली सन्तान के लिए नेता का काम दे। आप को उस में उत्तरदायित्व और भलाई करने का भाव भर देना चाहिए। यदि आप को इस में सफलता हो जाय तो आप को तथा आपकी अगली सन्तान को इस से भारी लाभ होगा। आप के बड़े बच्चों को भी इस से नैतिक एवं मानसिक विकास के लिए प्रबल उत्तेजना मिलेगी। इसलिए "आप को इस बात का सदा ध्यान रहना चाहिए कि आप के बड़े बच्चे छोटों के लिए शिक्षक और नेता का काम दें।"

यदि आप अपने बड़े बच्चों को नहीं सुधार सकेंगे तो आप के सामने एक और समस्या आ खड़ी होगी—अर्थात् आप के बड़े बच्चे छोटों को अपने उदाहरण द्वारा बुराई की शिक्षा देने लगेंगे। इस से आप को निश्चय हो जायगा कि आप के लिए पहले से ही बड़े बच्चों को यथार्थ रीति से शिक्षा देने की कितनी भारी आवश्यकता है।

बच्चों में अनुकरण करने की शक्ति कहां तक पहुँचती है, यह देख कर आप को आश्चर्य होगा।

यदि बड़ा पुत्र *प्रभात* उँगलियाँ चटकाता है, कंधे सिकोड़ता है, नाक चढ़ाता है, कुरसी पर बैठ कर पैर हिलाता है, किसी की बात पर ध्यान नहीं देता, दूसरों के छिद्र ढूँढता है, तो उस के पश्चात् जन्म लेने वाली *वीणा* भी, चाहे उस की प्रकृति कैसी ही क्यों न हो, अपनी उँगलियां चटकाएगी, कंधे सिकोड़ेगी, नाक चढ़ाएगी, पैर हिलाएगी, किसी की बात पर ध्यान नहीं देगी और दूसरों के छिद्र ढूँढेगी। घर भालुओं का एक पिंजरा बन जायगा। एक बच्चे के दोषों को ठीक करने के स्थान में अब आप को ये सब दोष अपने अगले सभी बच्चों में ठीक करने पड़ेंगे।

इस लिए आप को सदा सावधान रहना चाहिए। ज्यों ही बालक में कोई दोष दिखाई दे, त्यों ही उसे ठीक कर देना चाहिए और छूत के रोगों के सदृश उसे एक बच्चे से दूसरे बच्चे में फैलने से रोकने के लिए भरसक यत्न करना चाहिए।

आप का एक कर्त्तव्य है और वह यह कि—

आप उत्तम काम कीजिए और अपने बड़े बच्चे से भी वही कराइए।

बालकों की पारस्परिक शिक्षा

एकलौते बच्चे के बिगड़ जाने की बहुत सम्भावना रहती है। इस का कारण यह है कि उसे उस शिक्षा का लाभ नहीं पहुँचता, जो भाई और बहनें इकट्ठे खेलने और झगड़ते समय स्वभावतः ही एक दूसरे को देती हैं। पहले तो वह स्वेच्छाचारी और उपद्रवी होगा। फिर यदि वह इन दोनों दुर्गुणों से किसी प्रकार बचा भी रहे, तो वह उग्र स्वभाव वाला—थोड़ी सी बात पर भी चिढ़ जाने वाला—अवश्य बन जायगा। इस से बड़ी अवस्था में उसे दुःख होगा; क्योंकि जब दूसरे लोग अज्ञानपूर्वक या अनिच्छापूर्वक भी उसे खिझायँगे, तो वह अकारण ही भुँझला उठेगा।

जिन लोगों के एकाधिक बच्चे हैं, यदि उन के लड़के अथवा लड़कियाँ भी आपस में लड़ने भिड़ने लगें, तो उन्हें दुःखित नहीं होना चाहिए। बहुत थोड़े ऐसे भाई होंगे, जो आपस में मार-पीट न करते हों। पर यदि उन को उचित सीमा का उल्लङ्घन न करने दिया जाय, तो उन के बाल्य-कलह में कोई हानि नहीं। माता पिता को सिवा बड़े बच्चों के शारीरिक बल को एक बराबर रखने के लिए, उन्हें ऐसे खिलौने का प्रयोग करने से रोकने के लिए, जिन से भयंकर शस्त्रों की भांति

हानि पहुँचने की आशङ्का हो, और साधारणत इस बात का ध्यान रखने के लिए कि कहीं भयानक हानि न पहुँचे, यथा सम्भव बहुत कम हस्त क्षेप करना चाहिए। बच्चा को उन के स्वार्थों का विरोध होने से जो अनुभव प्राप्त होता है, उस के समान और दूसरी शिक्षा उन्हें नहीं मिल सकती।

व्यावहारिक अनुभवों से बढ कर, चाहे वे कितने ही तुच्छ क्यों न हों, कोई शाब्दिक उपदेश बच्चे को दूसरे के अधिकारों का आदर करना नहीं सिखला सकता क्योंकि उन से सत्या चरण क लिए प्रोत्साहन मिलता है। बच्चे को दूसरों के प्रतिरोध का अनुभव अवश्य कराना चाहिए, जिस से उसे मालूम हो जाय कि हम समाज में अपने दूसरे भाई बहनों के अधिकारों के द्वारा सीमाबद्ध हैं। अत जब माता पिता अपने बच्चों को झगडते देखें, तब उन्हें चिन्तातुर नहीं हो जाना चाहिए। प्रत्येक मुक्का या थप्पड़ जो एक नन्हा भाई मारता या खाता है, एक नैतिक शिक्षा है जो समय पर फल लायगी।

एक ओर जहाँ बच्चों के कलह को बुराई समझ कर घबराना नहीं चाहिए, वहाँ साथ ही उसे जान बूझ कर उत्पन्न कराना या बढाना भी नहीं चाहिए। उसे केवल सहन करना चाहिए। माता पिता कभी कभी बच्चों के क्रोध के वेग को देख कर चौंक न उठा करें। बच्चों के लडने भिडने को बढाना तो दूर रहा, वरन् माता पिता को चाहिए कि इस बात का ध्यान रक्खें

कि उन के बच्चे एक दूसरे से प्रेम और परस्पर संमान करते हैं। यह बात उन के लिए कठिन नहीं। उन्हें एक बच्चे के सामने अपने दूसरे बच्चों की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत उन के लिए सदा प्रेम और आदर के शब्द बोलने चाहिएँ। इस में तनिक भी संदेह नहीं कि बच्चों में शत्रुता एवं विद्वेष का बड़ा कारण माता-पिता की अपनी असावधानी होती है, जो छोटे बच्चों को उन के भाई-बहनों के सामने ही डाँटने लग जाते हैं। इस लिए माता-पिता को यह नियम बना लेना चाहिए कि हम बच्चों के साथ उन के भाइयों और बहनों के सामने और अतिथियों के सामने सदा बड़ी आयु के मनुष्यों के सदृश ही बर्ताव करेंगे। जो डाँट-डपट करनी हो, वह यथासंभव एकान्त में ले जाकर करनी चाहिए और उस का उद्देश्य बच्चे के संमान को भङ्ग करना न होना चाहिए।

बच्चे भी प्रायः एक दूसरे को झिड़का करते हैं। परन्तु उनके शब्दों का वह प्रभाव नहीं होता जो माता-पिता के शब्दों का होता है। इस लिए बच्चों के द्वारा की गई निन्दा वैसी हानि नहीं पहुँचा सकती। इस के विपरीत, यदि माता-पिता या खिलाई-दाई बच्चों के उलटे-उलटे नाम रख कर एक दूसरे को चिढ़ाना बुरा समझेंगी, तो घर का बहुत सा कलह बंद हो जायगा।

जब छोटे छोटे बच्चे अपने बड़े भाइयों और बहनों के खेलों

में हस्त क्षेप करते और उनके खिलौने ले कर भाग जाते हैं, तब बड़े बच्चे स्वभावतः ही रुष्ट हो कर अपने निर्बल साथियों को मारने दौड़ते हैं। माता पिता को हस्त क्षेप कर के बच्चों को धैर्य का पाठ पढाने का अवश्यमेव यही अवसर है। बड़े बच्चों को ऐसे अवसर पर प्रसन्न रखने की सब से उत्तम विधि यह है कि उन्हें अपने छोटे बहन भाइयों को प्रौढ मनुष्य की आँख से देखना सिखलाया जाय। जब दो वर्ष की लड़की अपनी चार वर्ष की बड़ी बहन की गुड़िया को उठाकर भाग जाय, तब उसे भाग जाने देना ही अच्छा है। माता बड़ी बहन को गोद में ले कर यों कहे—"आओ देखें, नन्ही अब गुड़िया को क्या करती है। मैं ध्यान रक्खूँगी कि वह उसे तोड़ न डाले। वह देखो, वह गुड़िया को कैसे उठाए लिए जा रही है। क्या कोई माता अपने बच्चे को टाँगों से पकड़ कर ले जायगी? नन्हीं को अभी पता नहीं कि बच्चों के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए, परन्तु हम उसे सिखलावेंगे। तुम बड़ी हो, तुम्हें चाहिए कि उसे सिखलाओ।"

सम्भव है कि पहली बार बच्चों पर इस का कुछ प्रभाव न हो। परन्तु धीरे धीरे वे अपने छोटी बहनों और भाइयों की विलक्षण बातों में वैसा ही आनन्द लेना सीख जायँगे जैसा कि माता पिता लेते हैं। यदि उनके नन्हें साथी अपने बड़े भाई बहनों के अधिकारों में अनुचित हस्त क्षेप करके उन्हें क्रुद्ध भी करेंगे, तो भी वे उन्हें कुछ न कहेंगे।

बच्चों की सदा देख-रेख करते रहना चाहिए, विशेषतः जब कि उन के हाथ में भयंकर खिलौने हों, जैसे कि चाकू, कैंची आदि जिन से कि हानि पहुँचने की आशङ्का हो। परन्तु साथ ही यथा सम्भव उन्हें स्वतन्त्रता का आनन्द भी लूटने देना चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि उन्हें आपस में सहायता और अनुराग, प्रत्युत मतभेद द्वारा भी एक दूसरे को शिक्षा देने का अवसर दें।

हमारा सब माता-पिताओं से यही निवेदन है कि—

उन्हें अपनी सन्तान की प्रवृत्तियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए स्वयं अपने अनुभवों से काम लेना चाहिए और सुधार का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।

दण्ड मत दो

कहते हैं, सत्ययुग में कोई कारावास या मृत्युदण्ड न होता था। जब किसी से कोई दोष हो जाता था, तब उसे केवल 'न !' कह दिया जाता था। यही उस के लिए दण्ड था और इसी से उस का सुधार हो जाता था। फिर उस के बाद के समय में 'ऐसा मत करो' कहने से अपराधी का सुधार हो जाता था। फिर उस के भी पीछे के अधिक पतित काल में "हा ! तुम ने ऐसा कर दिया !" इतना कहना पर्याप्त होता था। पर आज यह समय है कि कठोर कारावास में भी अपराधियों का सुधार नहीं होता !

असभ्य जातियों में दण्ड सदा बदला लेने के भाव से दिया जाता रहा है, और अब भी दिया जाता है। परन्तु अब ज्यों ज्यों लोगों की आँखें खुल रही हैं, दण्ड का स्थान सुधार को दिया जा रहा है। भगवान् बुद्ध धर्मशीलों और पापियों, दोनों के प्रति सदिच्छा प्रकट करने का उपदेश देते थे। वे कहते थे कि सब मनुष्य, क्या भले और क्या बुरे, अवस्थाओं की उपज हैं। अच्छी परिस्थिति में रहने वाले अच्छे बन जाते हैं और बुरी परिस्थिति में रहने वाले बुरे। इसलिए बुरे घृणा के स्थान में दया के पात्र हैं।

यदि मनुष्य का चरित्र उस के भूत पर निर्भर है और उन अवस्थाओं पर निर्भर है, जिन में उस का पालन-पोषण हुआ, तो यह आशा करना कि वह अपनी वर्तमान कार्य-शैली का, जो कि उस की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है, बदल दे, बुद्धिमत्ता से दूर है। प्रत्येक जीव वैसा ही है जैसा कि पृथ्वी पर जीवन के आरम्भ से लेकर उस के अपने जीवन-इतिहास ने उसे बना दिया है। और जिस प्रकार का वह है, उसी प्रकार का उस का व्यवहार होगा। पापियों के पापमय कर्मों को देख कर क्रोध से उत्तेजित होने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें उन को समझाना चाहिए और सब से बढ़ कर उन के कारणों का पता लगाना चाहिए, और फिर उन की वैसी ही चिकित्सा करनी चाहिए, जैसा एक चतुर वैद्य व्याधि की करता है। किसी समाज, सरकार या न्यायाधीश का अपराधी के साथ अन्याय कर के इस कारण स्वयं अपराध कर बैठना कि उस ने समाज का अपराध क्यों किया है, ऐसी ही हास्य-जनक बात है जैसी कि आमाशय को इस लिए दुःख देना कि उस ने अजीर्ण के कारण शिरःपीड़ा क्यों उत्पन्न की है, अथवा देह के अन्य अवयवों को क्यों हानि पहुँचाई है। इसी आधार पर भगवान् बुद्ध ने यह कह कर कि घृणा से घृणा दूर नहीं हो सकती, धार्मिक जगत् से घृणा और प्रतिहिंसा का भाव ही बहिष्कृत कर दिया था। घृणा केवल प्रेम से ही मर सकती है। बुराई को रोकना चाहिए। परन्तु बदला नहीं लेना

चाहिए। दाँत के बदले दाँत तोड़ने और झूठ के बदले झूठ बोलने के स्थान में हमें झूठ को सत्य से, पाप को पुण्य से और आवेश को धैर्य से परास्त करना चाहिए।

मध्य काल में अधिकतर बदला लेने के उद्देश्य से दण्ड देने का नाम ही न्याय समझा जाता था। जिन अपराधियों को प्राण-दण्ड मिलता था, उन्हें जलते हुए चिमटों से नोचने, उन के अङ्गों को पहियों पर बाँध कर तोड़ने, उन्हें जीते जी जला देने और कठोर यातनाएँ पहुँचाने की नाना विधियाँ निकालते थे, जिस से अपराधी के प्राण यथासम्भव अधिक दुःख से लिए जायँ। पर अब मृत्यु दण्ड बदला लेना नहीं रह गया। यह अब उस घोर अपराध को दुबारा होने से रोकने के लिए एक उपाय मात्र समझा जाता है। जैसे हिंसक सिंह को खुला छोड़ देना हानिकारक है, वैसे ही उस मनुष्य को, जिसकी प्रकृति ही घातक बन चुकी है, स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए। साथ ही जहाँ एक ओर कारावास समाज की रक्षा के लिए कोई यथेष्ट बचन नहीं, वहाँ दूसरी ओर वह मृत्यु से भी बढ़ कर क्रूर उपाय है। जो मनुष्य एक बार दूसरे का प्राणघात करता है, उस के दूसरी बार भी वैसा ही करने की सम्भावना रहती है—इसी अनुभव के आधार पर मृत्यु दण्ड अब एक चिकित्सा बन गई है। इस लिए जिस मनुष्य ने इस लिए नहीं कि उस की प्रकृति ही घातक बन चुकी है, वरन् शोकजनक अवस्थाओं में फँस जाने के कारण—

जैसे कि मान-मर्यादा की रक्षा में, अथवा किसी अन्य ऐसी ही बात के कारण जो उस के असाधारण क्रोध का सन्तोष-जनक हेतु हो सके—हत्या की हो, तो उसे स्वाभाविक हत्यारा नहीं समझा जायगा और सभी सभ्य देशों के नियमों के अनुसार वह प्राण-दण्ड का भागी नहीं ठहराया जायगा। स्वाभाविक हत्यारे को, जिसकी प्रकृति ही घातक बन चुकी है, मार डालना समाज से एक हानिकारक सदस्य को दूर कर देना है, जैसे शरीर के एक गले सड़े अंग को काट कर दूर कर दिया जाता है।

माता-पिता और अध्यापकों को बच्चों की शिक्षा के लिए उन्हें दण्ड के पुराने अर्थ में दण्ड न देना चाहिए। यदि हम पुराने दण्ड शब्द का अधिक व्यापक अर्थों में उपयोग कर सकें, तो वह शिक्षा का एक साधन होना चाहिए; न कि आज कल की भाँति, बिना किसी उद्देश्य के, अपराधी को दुःख देने का नाम।

बच्चे को उस के बुरे कामों के बुरे परिणामों को जतला देने के सिवा और किसी वस्तु का नाम दण्ड न होना चाहिए। परन्तु प्रायः देखा गया है कि माता-पिता इस के सर्वथा विपरीत आचरण करते हैं। इस से बालकों को उनके बुरे कामों के बुरे परिणामों का पता नहीं लगता, पर वे दण्ड का अनुभव अवश्य करते हैं। इस दण्ड का कारण स्वभावतः ही

उन्हें माता पिता का क्रोध और शत्रुता प्रतीत होती है। बालक के किसी वस्तु को तोड डालने पर, यदि सम्भव हो तो, उसे उस वस्तु की क्षति का अनुभव कराओ। मान लीजिए कि बच्चे ने अपना दर्पण तोड डाला है। अब उसे चट पट ही दूसरा नया नहीं ले देना चाहिए। यदि वह दर्पण उस के भाई अथवा भगिनी का था, तो उस क्षति को पूरा करने के लिए उस से उस का अपना दर्पण दिला देना चाहिए और यदि सभव हो तो कोई ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिस से कम से कम थोड़े अंश में ही, अपनी की हुई हानि को उसे आप सहना पड़े।

यदि बच्चे अधिक अनिष्ट करें तो माता पिता को क्रोध करने में कोई हानि नहीं। परन्तु यह आवश्यक है कि बालक उन के क्रोध को अपने बुरे कर्म का प्रत्यक्ष परिणाम अनुभव करे।

शिक्षकों ने एक नियम बना रखा है कि क्रोध की अवस्था में कभी दण्ड मत दो। यह नियम है तो अच्छा, परन्तु यथेष्ट नहीं, क्योंकि दण्ड से उतना लाभ नहीं, जितना कि माता पिता के उस क्रोध से है जिसे बच्चा अपने दुष्कर्म का परिणाम समझे। प्रत्युत क्रोध को उत्तेजित करना अच्छा है, जिस से बच्चे के मन में माता पिता के स्नेह को खो देने का डर बैठ जाय। बच्चे को पता लग जाना चाहिए कि किन किन कामों

से माता पिता अप्रसन्न होते हैं। क्रोध को उन दुष्कर्मों से घृणा कराने का एक साधन बनाना चाहिए। नहीं तो यदि माता पिता इन शठता के कामों पर अप्रसन्नता और रोष प्रकट न करेंगे, तो बच्चा बड़ा हो कर जब दूसरे लोगों से परिचय प्राप्त करेगा, तब वह संसार में बहुत हताश हो जाएगा, क्योंकि दूसरा कोई व्यक्ति माता पिता के समान धैर्य न दिखलाएगा।

सब से उचित दण्ड यह है कि बालक को उसके दुष्ट और मूर्खता के कामों का पूरा पूरा फल चखने दिया जाय। यदि आप बच्चे को एक बार ठूँस कर मिठाई खा लेने और रुग्ण हो जाने दें और रोग के समय उसे याद दिलावें कि अपना रोग तुम ने आप ही मोल लिया है, तो आप उसे नैसर्गिक दण्ड दे रहे हैं। यह दण्ड उसे हठीला भी न बनावेगा और उस के बुरे स्वभाव को भी दूर कर देगा।

प्राय बच्चों को अधिक स्वतन्त्रता देना जोखिम की बात होती है। परन्तु जोखिम में पड़कर परिणामों को देखते रहना इस से अच्छा है कि उन्हें डण्डे के डर से अधिकार में रखा जाय, क्योंकि इस से वे नीच और दम्भी बन जायँगे।

बड़े हो जाने पर बच्चों को दण्ड नहीं दिया जा सकता। उस समय उन्हें सर्वथा अपने आप पर छोड़ देना चाहिए।

यदि उन्हें बाल्यावस्था से ही स्वतन्त्रता के प्राणदायक वायु के सेवन का स्वभाव न होगा, तो वे बड़ी आयु में स्वाधीनता लाभ न कर सकेंगे। परन्तु स्वाधीनता के बिना उत्तरदायित्व का भाव कदापि दृढ़ नहीं हो सकता। इस लिए यथा संभव उन्हें अधिक स्वाधीनता देनी चाहिए।

घर का वातावरण और संशोधन

जब आपका बालक कोई बुरा काम कर रहा हो, तो आप को यह स्मरण रखना चाहिए कि वह उसे बुरा समझ कर नहीं कर रहा है। इस लिए आप के हृदय में क्रोध अथवा निन्दा का अंश लेशमात्र भी न होना चाहिए। बच्चा कोई पाप नहीं कर सकता—बच्चे की प्रकृति के इस रूप को ध्यान में रख कर ही आप को घर में उस के साथ बर्ताव करना चाहिए। इस से दण्ड की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

परन्तु आप के लिए ऐसा भाव कठिन प्रतीत होगा। इस का कारण यह है कि हम ने स्वयं कुशिक्षा पाई है और हमारे मन में झूठे सिद्धान्त घुसे हुए हैं। फिर भी यदि आप सब बालकों को निष्पाप मान लेने का अर्थात् यह स्वीकार कर लेने का यत्न करें कि उन का अभिप्राय "वास्तव में कोई बुरा काम करना नहीं होता," तो समय पाकर आप इस भाव को ग्रहण कर सकते हैं। क्रोध, निन्दा और दण्ड का दिखलावा करके बच्चों में सत्य-प्रेम और सत्याचरण की रुचि उत्पन्न करने की नीति सर्वथा दूषित है। स्कूली बच्चों, शिल्प-शिक्षार्थियों, नौकरों, अपराधियों, पागलों, पशुओं और

पत्नियों के सुधार में यह नीति निष्फल, अनिष्टकारिणी एवं असंगत सिद्ध हो चुकी है और इस का सब कहीं, यहाँ तक कि राजनीति में भी, परित्याग किया जा रहा है। जो माता-पिता इस नीति को मानते हैं, वे उन गम्भीर और बदलते रहने वाले कारणों का पता लगाने का यत्न नहीं करते जिन से प्रेरित होकर बालक बुरे काम करते हैं। जब हलके दण्ड से कुछ लाभ नहीं होता, तब वे और भी कठोर दण्ड देते हैं। उन के दण्ड इस प्रकार निरन्तर कठोर से कठोरतर होते जाते हैं। उन के व्यवहार से बच्चे दम्भी और नरपशु बन जाते हैं, और उनकी अपनी नैतिक बुद्धि भी स्थूल हो जाती है।

आधुनिक अनुभव हमें यह सिखलाता है कि नोटिस बोर्ड पर "बिना आज्ञा के प्रवेश करने वाले पकड़ लिए जायँगे" की विज्ञप्ति लगाने की अपेक्षा "आप से प्रार्थना है कि आप आज्ञा लेकर भीतर आइए" कहीं अधिक लाभदायक है। बच्चों को जिस काम से बलपूर्वक रोका जाय उसे वे अवश्य ही करते हैं। यदि उन्हें भय दिखाकर वाटिका में फूल तोड़ने से रोका जाय, तो वे अवश्य ही तोड़ने का यत्न करेंगे। आप देखेंगे कि क्या बच्चे और क्या बूढ़े, सभी पर धमकी के रूखे शब्दों की अपेक्षा नरमी और दया का अधिक प्रभाव होता है। निषेधात्मक स्वर में आज्ञा देने से दूसरा मनुष्य सदा चिढ़ जाता है। यदि आप किसी से कहेंगे कि 'ऐसा मत करो', तो बहुत

संभव यही है कि वह प्रकट या मूक भाव से आपको यह उत्तर देगा कि 'मैं अवश्य करूँगा।'

"प्रसन्नता से आदरपूर्वक की हुई प्रार्थना को अस्वीकार करते मनुष्य को लज्जा होती है।"

आप के मन में सदा यह भाव होना चाहिए कि बच्चे आप के शिष्य हैं, और जिस प्रकार बड़े परिश्रम और धैर्य के साथ उन्हें 'पाठ' पढ़ाया जाता है, ठीक उसी प्रकार उन्हें आचरण करना सिखलाना चाहिए।

इसलिए माता-पिता को अध्यापक के समान अन्य संयमों और दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए, क्योंकि विशाल दृष्टि से देखने पर "उनका तथा अध्यापक का काम एक ही है।" जो कुछ माता-पिता आप नहीं बनते अथवा करते, उस का उन के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता। "प्रेम एक ऐसी वस्तु है, जिस के न होने से माता पिता के सभी उद्योग निष्फल होते हैं। इस के प्रताप से ही उन में बच्चों के साथ उचित बर्ताव करने की शक्ति आ सकती है।" अत यदि आप अपने बच्चों में प्रेम-भाव उत्पन्न करना चाहते हैं; तो आपके घर का वातावरण प्रसन्नता, हर्ष, प्रमोद, रम्यता और सुशीलता का होना चाहिए।

बच्चों पर प्रसन्नता का वैसा ही परिणाम होता है जैसा कि

वनस्पतियों पर सूर्य का। वे जितने ही प्रसन्न रहें उतना ही थोड़ा है। यदि आप उन्हें सुखी रखेंगे तो वे अच्छा बढ़ेंगे; अच्छा पढ़ेंगे और अच्छा आचरण करेंगे।

अपने बच्चों के साथ यह खेल खेलो कि घर में कोई व्यक्ति दूसरे की बात का तब तक उत्तर न दे, जब तक वह उसे "जी" कह कर न बुलावे। जिस समय कोई बच्चा दूसरे को सम्बोधन करते समय "जी" कहना भूल जायगा, और उस के बार-बार बुलाने पर भी दूसरा कुछ उत्तर न देगा, तब बड़ी दिल्लगी होगी। जब "जी" कहने का अभ्यास हो जाय, तब इसी प्रकार शिष्टाचार के अन्य शब्दों का अभ्यास कराया जा सकता है। बच्चों को भी इस खेल में आनन्द आयगा।

पाँच वर्ष की एक छोटी लड़की को किसी कारण सब किसी के मुँह पर थप्पड़ मारने की बुरी बान पड़ गई थी। आप जानते हैं, स्वभाव का छोड़ना बड़ा कठिन होता है। उस ने अपने पिता के साथ समझौता किया कि आप मुझे इस लत्त को दूर करने में सहायता दें। उस के पिता ने उसे समझाया कि तुम्हें थप्पड़ मारने का एक रोग है। दिन में कई बार तुम्हें उस का दौरा होता है। इस लिए वह दिन में उसे कई बार हँसी हँसी में स्मरण करा दिया करता कि सावधान रहना, कहीं रोग का दौरा न हो जाय। जब उसे तनिक भी संदेह होता कि लड़की का मिज़ाज बिगड़ने लगा है, तब वह

झट उसे कह देता कि देखना, कहीं हाथ न उठाना। यदि वह अपने मनोवेग को न रोक सकती, तो उसे, उस की अपनी अनुमति से, एक दूसरे कमरे में इस पर शान्ति-पूर्वक विचार करने के लिए भेज दिया जाता। पर उसे साथ ही यह भी कह दिया जाता कि वहाँ से तुम्हें शीघ्र ही बुला लिया जायगा। जब वह कहीं बाहर खेल रही होती, तब दूसरे कमरे का काम किसी दूर के वृक्ष या पत्थर से लिया जाता। जब उसे बार-बार उस एकान्त कमरे में जाना पड़ता तो वह समझ जाती कि मुझे अपनी लत्त पर देर तक विचार करना चाहिए। इस प्रकार उस का वह "रोग" शीघ्र ही शान्त हो गया। वात प्रकृति के कारण फिर यदि उसे कभी उस का दौरा होता तो उसे आधा दिन रोगी की भाँति शय्या पर लिटाए रखते। इस का उस पर चिरस्थायी और बिजली का ऐसा प्रभाव होता। इस के अतिरिक्त, वह अपने आप को अधिक सुखी अनुभव करने लगती। एक बार तो यहाँ तक हुआ कि यद्यपि शय्या पर लेटे रहना उसे बहुत बुरा मालूम होता था, पर फिर भी उस ने आप ही कहा कि मुझे लिटा दिया जाय।

इसी सिद्धान्त के अनुसार बच्चों से कह दो कि यदि तुम रो कर या चिल्ला कर कोई बात कहोगे, तो वह नहीं सुनी जायगी; यदि तुम किसी बात पर हठ कर के कहोगे कि "यह अवश्य लेकर छोड़ूँगा।" तो वह तुम्हें कभी न दी जायगी।

तुम्हारे 'आवश्यक' का अर्थ 'अनावश्यक', 'सदा' का 'कभी नहीं' और 'कभी नहीं' का 'सदा' होगा। ऐसी बातों के विषय में बच्चों के साथ तर्क मत करो। बच्चों को रम्य रीति से इस बात का ज्ञान करा दो कि स्वभाव न तो युक्ति और तर्क से बनते हैं और न दूर ही हो सकते हैं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। पाँच वर्ष का एक लड़का सुनता है कि यदि मेरी चार वर्ष की छोटी बहन सारा दिन न रोयेगी, तो वह 'सयानी' कहलायगी। इसी प्रकार एक सप्ताह तक कभी न रोने पर उस का नाम "देवी" हो जायगा। फिर पिता जी उसे चिड़िया घर दिखाने ले जायेंगे। इस का परिणाम यह होता है कि लड़का पूरे डेढ़ मास में एक बार भी नहीं रोता, और उस काल-खण्ड में किसी भी अवस्था के उत्पन्न हो जाने पर नहीं चिल्लाता। इस समय की समाप्ति पर वह इन सुन्दर नामों की भी परवाह नहीं करता, वरन् वह चिड़िया घर जाने की भी बात भूल जाता है। स्वभाव के विकास का यह एक स्पष्ट उदाहरण है। छोटी लड़की भी, जिस के लाभार्थ यह प्रयोग किया गया था, सात दिन तक बिलकुल नहीं रोई। पहले दिन उस का नाम 'सयानी' रक्खा गया, दूसरे दिन 'रानी', तीसरे दिन 'लाडो', चौथे दिन 'मोती', और पाँचवें दिन 'देवी'। ये वे नाम हैं जो बच्चों को प्यारे लगा करते हैं।

"घर की शिक्षा में अनियतता से बहुत अनिष्ट होता है।"

कई बार ऐसा होता है कि बच्चों को आप के अनुरोध को बार बार सुनने का इतना अभ्यास हो जाता है कि उन्हें इस बात के समझने में सचमुच बड़ी कठिनाई होती है कि आप उन से बातें कर रहे हैं या कोई काम करने के लिए आदेश कर रहे हैं। वे आपकी ओर देखेंगे, पर आप की बात नहीं सुनेंगे। वे उसे सुन कर भी अनसुनी कर देंगे। इस लिए आप को जो बात हो "नियत रूप से" कहनी चाहिए।

(क) आवश्यकता के अनुसार, प्रत्येक काम के लिए बच्चों को एक, तीन या दस मिनट का समय दो; वे इस रीति से लाभ उठावेंगे। आगे चल कर आप यह बोली "एक, दो" तक, फिर 'एक' तक घटा सकते हैं। फिर कुछ देर बाद 'एक' कहने की भी आवश्यकता न रहेगी। बोली देते समय "तीन" का शब्द उतने समय में कहो जितना कि उस काम के करने के लिए आवश्यक है। उस से जल्दी न कहो, अन्यथा बच्चे आज्ञा पालन न कर सकेंगे। वास्तव में इस शब्द के साथ "ती, ती, ती, तीन" कह कर खेलने से कुछ सेकण्डों से अधिक समय में हो सकने वाले काम सुगमता से हो जाते हैं। इसी प्रकार आप उन्हें पाँच मिनट तक चुप रहने, उस के उपरान्त पाँच मिनट तक काना-फूसी करने, और तत्पश्चात् पाँच मिनट तक बहुत चुपके-चुपके बातें करने का आदेश कर सकते हैं। परन्तु आप को पहले एक मिनट के

मौन से आरम्भ करना चाहिए। आप देखेंगे कि इस नियम का प्रयोग बहुत दूर तक हो सकता है। आप के बच्चे इसे शीघ्र ही ग्रहण कर लेंगे।

(ख) आप देखेंगे कि जहाँ तक किसी अच्छे स्वभाव के बनाने अथवा किसी बुरे के दूर करने का संबंध है नियतता—प्रत्येक बात का नियत होना—अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे नियम के बिना आप को व्यावहारिक रूप से सफलता नहीं हो सकती। भोजन करते समय चौके के बाहर न घूमना, ठीक तौर पर बैठना, स्वच्छ और सुन्दर रूप से खाना, इत्यादि बातों पर ध्यान देना बच्चों के लिए बहुत आवश्यक है। ये स्वभाव आप के बच्चे एक सप्ताह में सीख सकते हैं। आप को ध्यान-पूर्वक देखना चाहिए कि ये स्वभाव यथार्थ रूप से उन में स्थिर हो जायँ और पीछे से दूर न हों। आरम्भ में यह बहुत आवश्यक है कि जब बच्चे खाना खाने बैठें, तब उन की चेष्टाओं पर पूरा ध्यान दिया जाय। दिन में उन को कई बार स्मरण कराया जाय कि खाते समय अमुक अमुक बातों का ध्यान रखना चाहिए। परन्तु चार पाँच दिन के बाद आपको इन बातों की आवश्यकता बिलकुल न रहनी चाहिए। किसी काम को यथार्थ रीति से न करने का कारण, अंशतः अथवा पूर्णतः, अविद्या होती है। इसलिए स्वभावतः आप को उदाहरणार्थ, यह देखना चाहिए कि आप के बच्चे रोटी तोड़ना दाल के साथ ग्रास को मुख में डालना, उसे ठीक रीति से चबाना

और शाक-भाजी गिराकर कपड़ों को खराब होने से बचाने के लिए थाली पर थोड़ा सा झुकना जानते हैं या नहीं। "आप को अध्यापक की भाँति उन्हें प्रत्येक बात विस्तार के साथ बड़े परिश्रम से सिखलानी चाहिए।" यदि उन्हें इन आवश्यक बातों का ज्ञान नहीं, यदि वे उन्हें सुगमता से नहीं सीख सकते, यदि वे उन्हें शीघ्र ही भूल जाते हैं, तो आप को अधीर नहीं हो जाना चाहिए। "जो स्वभाव डालना हो, उस पर आप को तीन दिन तक अपरिमित रूप से ध्यान देना चाहिए," विशेषतः इस लिए कि बच्चों को अपनी पुरानी सीखी हुई अनुचित रीति भुलाना है। एक नये स्वभाव को बनाने के लिए सामान्यतः एक दूसरे स्वभाव को दूर करना होता है। यदि आप यह नियम न बनावेंगे कि एक सप्ताह के भीतर ही बच्चों में अमुक स्वभाव अवश्य आ जाना अथवा दूर हो जाना चाहिए, तो उन में बुरे स्वभावों के अनियत समय तक, महीनों प्रत्युत वर्षों तक, बने रहने की सम्भावना है। यह 'एक सप्ताह के भीतर' का नियम बिजली का सा काम करता है, और आप की प्रत्येक कठिनाई को चट-पट और सदा के लिए दूर कर देता है। इस के बिना बच्चों में बुरे स्वभावों का ढेर लग जाता है। आप को उन्हें लगातार समझाना, चिताना और डाँटना पड़ता है, पर फिर भी उन में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। अन्त को आप सर्वथा हताश हो जाते हैं; आप के बच्चों का चरित्र अनावश्यक रूप से खिचड़ी और ढीला बन जाता

है। ऐसे खिचड़ी चरित्र की आप को न आवश्यकता थी और न आशा।

"बुद्धिमान् माता पिता अपनी कठिनाइयों को एक-एक कर के, जैसे-जैसे वे आती हैं, थोड़े ही दिनों में दूर करते रहते हैं।"

(ग) परन्तु सफलता प्राप्त करने के लिए एक और प्रकार की नियतता की भी आवश्यकता है, अर्थात् "बच्चे के स्वभाव में एक समय में नियत प्रकार का एक ही परिवर्तन अथवा बहुत थोड़ा फेर-फार करने का यत्न करो।" बच्चों से यह आशा करना कि वे एक सप्ताह में "अच्छा वर्ताव" करने लगें, अथवा इस अवधि में अपने कोई आधी दर्जन बुरे स्वभावों को सुधार लें, अथवा उन से ऐसी बातों के लिए यत्न कराना, जिन का करना एक बच्चे की शक्ति से बाहर है, विफलता और निराशा को आप निमन्त्रण देना है। इस लिए एक सप्ताह में सारा ध्यान केवल एक या दो स्वभावों के बनाने पर ही दो, शेष को आगे के लिए छोड़ दो।

बच्चों को बहुत थोड़े कामों के लिए कहना चाहिए, ताकि वे तुम्हारी बात पर पूरा पूरा ध्यान दे सकें। उन्हें एक बात समझाते समय उस के साथ और असंख्य बातें समझा देने की चेष्टा न करो। अच्छे अध्यापक के सदृश जिस, एक बात को तुम समझाना चाहते हो, उसे छोड़ कर और इधर उधर

की बातों में मत उलझो। तुम्हारा आदर्श वाक्य यह होना चाहिए—"धीरे-धीरे जल्दी करो," अथवा "एक सप्ताह का काम एक सप्ताह के लिए पर्याप्त है।" इस से जहां आप का जी न जलेगा, वहाँ आप के बालक भी दुखी होने से बच जायँगे।

इस के अतिरिक्त, बच्चों के स्वभाव के स्वरूप को समझना चाहिए, तभी वे जान सकते हैं कि बाहर से निरुपद्रव दिखाई देने वाले कर्मों की उन के लिए क्यों मनाही की जाती है, क्यों एक भी अपवाद की आज्ञा नहीं दी जाती, और क्यों उन्हें तत्काल ही आज्ञापालन करना चाहिए। साढ़े चार वर्ष की एक लड़की भी यह समझ सकती है कि निषिद्ध कर्म का करते रहना उत्तम स्वभाव के बनने को रोकता, और उस कर्म का छोड़ देना स्वभाव के बनाने में सहायता देता है। बच्चा रो कर जो कुछ कराना चाहता है, यदि माता वैसा कर देगी, तो वह अपने सब काम रो कर ही कराया करेगा।

परन्तु यदि आप चाहें तो बच्चों के साथ एक प्रकार की सन्धि कर सकते हैं। यदि वे कहें कि "केवल एक बार" कर लेने दीजिए, तो आप उन्हें इस शर्त पर उस की अनुमति दे सकते हैं कि वे उस दिन दुबारा "केवल एक बार" फिर करने को न कहेंगे। वास्तव में "जब आप के बच्चे यथार्थ रूप से सध चुकें, तब कभी-कभी होने वाले अपवादों की न केवल

अनुमति ही दे देनी चाहिए, वरन् उन्हें अच्छी दृष्टि से देखना चाहिए।" जिन दिनों में सधाने का काम हो रहा हो, केवल उन दिनों में ही अनन्त विवादों और अविरत अपवादों का डर होता है। इस लिए इन्हीं दिनों में आप को उन मानसिक नियमों पर पूरा ध्यान देना चाहिए, जो स्वभावों के बनने और नष्ट होने में काम करते हैं। आरम्भ में मानस-शास्त्र से लाभ उठाते हुए केवल इसी लिए अपवादों की अनुमति दो कि वे और भी अधिक अच्छी तरह से दब जायें। "केवल एक बार" तथा "केवल एक बार और" से बहुत गड़बड़ मचती है।

यदि आप की प्रकृति हँसमुख और सदा प्रसन्न रहने वाली है, तो आप के घर में प्रत्येक बात के फूलने-फलने की संभावना है। तब स्वभाव को बनते देर और कठिनाई नहीं होती, और जिस आदर्श कार्य को वे पूरा करते हैं, उस के कारण उन स्वभावों पर बच्चों का शीघ्र ही और सुगमता से प्रेम हो जाता है। इस के विपरीत कठोरता, निष्ठुरता और घोर गम्भीरता बच्चे में नैतिक चपलता उत्पन्न कर देती है अथवा उसे एक रिवाजी गुड़िया बना देती है। "आप पूर्ण रूप से प्रसन्न और आनन्दी रहिए," फिर आप के बच्चे भी पीड़ा, कष्ट और विफलता को बड़े धैर्य से सहन करेंगे, और अच्छे स्वभाव एवं मनोवाञ्छित सद्गुण वसन्त ऋतु में पुष्पराजि के सदृश उत्पन्न होंगे। ऐसे वायुमण्डल में नैतिक रोगों के बीज सूख कर मर जायेंगे।

इस व्यक्तिगत, आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय कलह के युग में चाहे आप को यह प्रायः असम्भव ही प्रतीत हो, फिर भी "आप को अपने बच्चों के साथ एक आनन्दी, स्वास्थ्य-रक्षक अथवा हंसमुख डाक्टर के सदृश व्यवहार करना चाहिए।" आप को चाहिए कि अच्छा बनने में बच्चों को "सहायता दें।" नन्हें बच्चों के पेट में पीड़ा न होने लगे, इस विचार से जिस प्रकार माताएँ उड़द, कचालू आदि देर से पचने वाली वस्तुएँ खाना छोड़ देती हैं, उसी प्रकार उन्हें उन के नैतिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए क्रोध, चिड़चिड़ापन, ईर्ष्या, द्वेष और निंदा आदि की बुरी बान भी छोड़ देनी चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि वे बच्चों को इस बात पर सहमत कर लें कि वे उन्हें अपने उद्धार में सहयोग की अनुमति दे दें। माता-पिता उन के साथ "आयु में बड़े मित्र" की तरह वर्ताव करें न कि अपने आप को श्रेष्ठ माता-पिता समझ कर। जो बातें सच्ची हैं, जो गम्भीर हैं, जो न्यायसंगत हैं, और जो मनोहारी हैं, उन सब पर एक नीरोग एवं स्वाभाविक बालक का प्रेम हो जाना सम्भव है। स्मरण रहे कि अनुकूल अवस्थाओं में सौ में से पचानवे बालक नीरोग एवं स्वाभाविक ही होते हैं।

"हमें किसी स्वभाव को तोड़ने अथवा एक स्वभाव को निकाल कर उस का स्थान किसी दूसरे को देने के लिए बच्चों को प्रबल रूप से उत्तेजित करना चाहिए।" इस लिए असाधारण उपायों से काम लेना आवश्यक है। बालक को एक

कोने में खड़ा करने, अथवा कमरे से बाहर भेज देने, ताकि वह अपने किए पर विचार कर सके, अथवा उसे दूसरे बच्चों के साथ एक पङ्क्ति में भोजन करने की आज्ञा न देने का अभिप्राय केवल यही है कि बालक के हृदय पर विशेष बातों का संस्कार डालने के लिए असाधारण उपायों से काम लिया जाय। यदि क्रोध, रोष, अथवा निन्दा का प्रकाश किए बिना ही इन उपायों को काम में लाया जाय, तो दण्ड का आभास मात्र ही रह जायगा।

मान लीजिए कि आपने अपने बच्चे को एक विशेष स्वभाव ग्रहण करने में तीन दिन तक सहायता दी। फिर आप ने एक दो शब्दों में बता दिया कि यदि तू इसे भूल जायगा तो अपनी स्मृति को तेज़ करने के लिए तुझे एक जून का भोजन अलग एक कोने में बैठ कर करना पड़ेगा। सामान्यतः इतना ही पर्याप्त होता है; और बालक के मन में दण्ड पाने का कुछ भी भाव नहीं होता। यदि वह बार-बार वही अपराध करे तो उसे दोनों काल अकेले बैठ कर भोजन करने का आदेश होना चाहिए।

इसी प्रकार कोई अपराध करने पर पिता बालक से कह सकता है कि तुम दुष्टता करते हो, इस लिए मैं तुम्हें आज चिड़िया घर दिखाने नहीं ले जाऊँगा; मैं तुम्हें मेले में नहीं ले जाऊँगा; दूसरों को खिलौने मिलेंगे, परन्तु तुम्हें नहीं; तुम्हें

तमाशा नहीं दिखाया जायगा, या मैं तुम्हारे साथ नहीं बोलूँगा। यदि बच्चा नौकरों को छड़ी से मारता है, तो उस से छड़ी ले लो; यदि वह अपनी बहन पर ज़ोर से गेंद फेंकता हो, तो उस से गेंद ले लो। इन अवस्थाओं में क्रोध करने की आवश्यकता नहीं।

एक और उदाहरण लीजिए। आप का बालक कोई दोष करता है, और उपदेश का उस पर कुछ परिणाम नहीं होता। इस अवस्था में भी आपको पूर्वोल्लिखित विधि से ही काम लेना चाहिए। बच्चे को किसी कोने में अकेला खड़ा कर दीजिए अथवा उसे खाट पर लिटा दीजिए, ताकि वह सोचे कि भविष्य में उसे किस प्रकार आचरण करना चाहिए, अथवा उस के साथ एक दो घण्टे मत बोलिए, इत्यादि। "उसे एक रोगी समझ कर वैद्य की भाँति उस की चिकित्सा कीजिए। उसे हत्यारा अपराधी समझ कर कसाई की तरह दण्ड देने का यत्न न कीजिए। फिर आप को अवश्य सफलता होगी।" इस के विपरीत यदि आप क्रोध के आवेश में आपे से बाहर हो जायँगे, तो आप के बच्चे में भी क्रोधाग्नि भड़क उठेगी और सुधार का कुछ भी फल न होगा। एक बार फिर अपने भूले भटके और ना समझी से दोष करने वाले बालक के साथ नम्रता एवं विचारशीलता पूर्वक व्यवहार कीजिए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक विचारशील और कोमल स्वभाव वैद्य अपने रोगियों की चिकित्सा करता है।

निम्नलिखित बातों को स्मरण रखिए:—

(क) आनन्दी प्रकृति—हँसमुख होना—परम आवश्यक है।

(ख) आप को अपने बच्चों के साथ सहानुभूति होनी चाहिए। "उन के भावों को समझने एवं उन के साथ यथा-योग्य व्यवहार करने के लिए अपने आप को उन के स्थान में रख कर देखिए।" यह समझ लेना कि बच्चे हमें कुछ शिक्षा नहीं दे सकते, पर्याप्त न होगा।

(ग) "आप को अपनी बुद्धि से जितना अधिक हो सके, काम लेना चाहिए" क्योंकि तभी आप को मालूम हो सकता है कि किस बात का करना सब से अच्छा है। यदि आप इसे एक सुगम कार्य समझेंगे, तो फिर आप के लिए बालक का सामना करना कठिन जान पड़ेगा। वह ऐसी-ऐसी बातें करेगा जिन का उत्तर आप को कुछ भी न सूझेगा।

(घ) "आप का संकल्प दृढ़ हो। वह झुकने वाला और डोलने वाला न हो।" जब एक बार आप किसी अच्छे प्रमाण के आधार पर कोई संकल्प कर लें, तब फिर उस समय तक उसे कभी न बदलिए, जब तक कि कोई और अधिक प्रमाण न मिल जाय। इस से यह लाभ होगा कि जिन छोटी-छोटी रीतियों का प्रायः बालक उपयोग किया करते हैं, उन के द्वारा आप से काम लेने की उन्हें आशा न रहेगी।

(ड) "आप को यह बात स्मरण रहनी चाहिए कि शिष्टता अर्थात् दूसरों के व्यक्तित्व एवं भावों का संमान जैसे बाहर वालों के प्रति आवश्यक है, वैसे ही अपने घर वालों के प्रति भी है।

यदि आप इस उत्तम रीति पर अपने "हृदय, मन, संकल्प, प्रसन्नता और शिष्टता" के साथ काम करेंगे तभी सफलता की संभावना है; और तभी आप असंख्य विफलताओं से बच सकते हैं। अनेक माता-पिता बच्चे की उचित बात को भी तब तक नहीं सुनते जब तक कि वह रो पीट कर उन्हें तंग न करे। इस से भारी नैतिक हानि होती है। बच्चे झगड़ालू और रोते रहने वाले बन जाते हैं। इस लिए बच्चों की उचित एवं युक्ति-संगत माँग को प्रसन्नता-पूर्वक तत्काल पूरा करने का यत्न करना चाहिए।

मनाही

यदि आप चाहते हैं कि बच्चा कहे बिना अपने आप ही कोई काम कर दे, तो आप का उसे "यह काम न करना", इतना कहना ही पर्याप्त है। फिर वह अवश्य ही उस काम को करेगा। भय और बल से आप चाहे कितना ही उसे अवज्ञा करने से क्यों न रोक दें, परन्तु उस के हाथ फिर भी उस निषिद्ध कर्म को करने के लिए खुजलाते ही रहेंगे। बच्चों को बिना सोचे-समझे इस प्रकार की जितनी आज्ञाएँ दी जाती हैं, वे सब की सब उन्हें आज्ञा न मानने वाले बनने के लिए प्रलोभन का काम देती हैं।

एक समय की बात है, बच्चों के एक छोटे से दल ने छत पर से बहुत से डिब्बे नीचे गिरा दिए। उन को उठा कर ऊपर ले जाने के लिए नौकर को बहुत परिश्रम करना पड़ता। बच्चे यह परिहास कर के बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु उन का एक मौजी चचा वहाँ आया। आते ही उस ने बच्चों से कहा कि डिब्बों को नीचे ही पड़े रहने देना। यदि उन्हें कोई ऊपर उठा लाया तो वह दारुण दण्ड का भागी बनेगा। उस का इतना कह कर वहाँ से जाना था कि बच्चों ने सब के सब डिब्बों को ऊपर लाना आरम्भ कर दिया। उन के नेत्रों से ऐसा

प्रतीत होता था, मानों आज्ञा-भंग कर के उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है।

इस लिए स्मरण रखो कि अपने बच्चों को 'ऐसा न करना' कभी न कहना। किसी बात से उन्हें मना न करो। उन्हें आज्ञा-भङ्ग करने के लिए कभी प्रलोभन में न डालो, दूसरे शब्दों में, उन की स्वतन्त्रता का आदर करो, और उन्हें मूर्खता के काम करने दो, यदि वे अपनी हानि सह कर भी उन्हें करना पसंद करते हों।

यदि आप चाहते हैं कि बच्चा सीढ़ियों से नीचे न उतरे, क्योंकि उस के गिर कर चोट लग जाने का डर है, तो उसे स्वयं उद्योग कर लेने दो और अपने ही अनुभव से जान लेने दो कि नीचे उतरने से वह अपने-आप को जोखिम में डालता है। उस से कह दो कि तुम गिर पड़ोगे, परन्तु उसे रोको नहीं। "न" मत कहो। जब पहली बार वह सीढ़ियों में जाय, तो भली भाँति देखते रहो कि कहीं भारी चोट न लग जाय। परन्तु उसे गिरने के भय का अनुभव कर लेने दो और उसे जतला दो कि चोट लग जायगी। यदि वह चेतावनी पर कुछ ध्यान न दे, तो यही अच्छा है कि वह एक बार गिर कर पर्याप्त रूप से भयभीत हो जाय, जिस से उसे यह बात आगे के लिए स्मरण रहे।

इसी प्रकार बच्चे के किसी गरम चीज़ को पकड़ने की बात

है। यदि उस का हाथ एक बार जल जायगा, तो फिर भविष्यत् के लिए वह उसे नहीं भूलेगा। यदि बच्चे मिठाई या मट्ठियाँ प्रभृति देर से पचने वाली चीज़ें उचित मात्रा से अधिक माँगें, तो उन्हें भली भाँति चेतावनी दे देनी चाहिए। उन्हें कह दो कि "मेरा अपना जी अधिक खाने को चाहता है, परन्तु मुझे निश्चय है कि इस से मेरी पाचन-शक्ति नष्ट हो जायगी और मैं रोगी हो जाऊंगा। इसी कारण मैं नहीं खाता।" यदि बच्चा फिर भी न माने, तो जब वह अधिक खाने के कारण से रुग्ण हो जाय तो माता को चाहिए कि उस के सिरहाने बैठ कर पूछे कि तुम ने कल क्या खाया था? इस प्रकार उसे, बिना क्रोध प्रकट किए, अधिक मिठाई खाने की हानियाँ सुझावे।

खान पान में आत्म-संयम सिखलाने के लिए रोग सब से उत्तम शिक्षक है। माता पिता का कर्त्तव्य है कि इस अवस्था में बच्चे को रोग के कारणों का पता लगाने में सहायता दें।

दण्ड से आप बच्चों को शिक्षा नहीं दे सकते। जहाँ तक संभव हो, उन्हें उनके कर्मों के भले बुरे फलों का अनुभव करने दो। भले और बुरे के कारण कार्य नियम को भली प्रकार समझ लेने से उन पर छड़ी के डर अथवा तीव्र डॉट-डपट की अपेक्षा अधिक उत्तम और शिक्षाप्रद प्रभाव पड़ेगा।

बालक स्वयं आप के व्यवहार की प्रतिध्वनि होगा।

डॉट-डपट से वह भिड़कने वाला और कठोरता करने से वह क्रोधी बन जायगा।

पाप-कर्मों के विरुद्ध चेतावनी देने और उन के घृणित होने पर बल देने के स्थान में पुण्य कर्मों की प्रशंसा करो और उन का सुन्दर एवं युक्ति-सिद्ध होना दिखलाओ। बच्चे को यह कहने के स्थान में कि "तुम बुरे हो," यह कहो कि "तुम अब बहुत अच्छे नहीं"। यह बताने के स्थान में कि तुम यदि अमुक नियम को तोड़ोगे तो बुरे परिणाम निकलेंगे, बच्चे के सामने उस भलाई का चित्र खींचो जो नियम का पालन करने से प्राप्त होती है। यह कहने के स्थान में कि "तुम झूठ कहते हो," या "फूल मत तोड़ो", या "मत रोओ", या "मैले मत रहो", बच्चे से मृदु वाणी और प्रेम से कहो कि "तुम से भूल हुई है", या "हा! बेचारे फूलों पर दया करो", या "प्रसन्न रहो," या "अधिक साफ रहने का यत्न करो", इत्यादि।

आप को मानना पड़ेगा कि इन दो भावों में आकाश पाताल का अन्तर है। इन में से एक सदा नीच और अधम चीज को दिखलाया करता है। यह अपराधी को पाप का पुतला बताता है। दूसरा भाव बच्चे का ध्यान अच्छी चीजों की ओर दिलाता है। यह उसे सब पवित्र और सुन्दर बातों पर विचार करने का अभ्यास कराता है। इस प्रकार 'दुष्ट' और

'मूर्ख' शब्द दुष्टता और मूर्खता का भाव उत्पन्न करते हैं, और बच्चा शीघ्र ही दूसरों को दुष्ट और मूर्ख कहने लगता है। कई ना समझ माता पिता छोटी बच्चियों को लाड से "चुड़ैल", "सिरमुन्नी" "राँड", या "खसम-खानी" कहते हैं। इस पर वे अबोध बालिकाएँ भी उन्हें उन्हीं शब्दों से पुकारने लगती हैं। इस लिए धनात्मक बनो, ऋणात्मक नहीं। "भलाई को लक्ष्य में रक्खो, बुराई के अभाव को नहीं।" यह कल्पना करने के स्थान में कि यह बात अच्छी है और वह बुरी है, यह कल्पना कीजिए कि यह बात अच्छी है और वह थोड़ी अच्छी है।

शरीर-रक्षा

शरीर और आत्मा का आपस में बड़ा भारी संबंध है। यदि आत्मा और आचार का ध्यान न रखा जाय, तो तन्दुरुस्ती जल्दी या देर से अवश्य बिगड़ जाती है। और यदि शरीर का ध्यान न रक्खा जाय तो बुद्धि और चरित्र के उच्च होने की बहुत ही कम सम्भावना है। नीरोग शरीर में ही नीरोग मन रह सकता है।

बच्चों के शरीर को प्रतिदिन बड़ी सावधानी से साफ रक्खो, उन की त्वचा के साथ लगने वाला नीचे का कपड़ा लगातार बदलते रहो। इस के अतिरिक्त भोजन से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक छोटी से छोटी बात में भी पूरी-पूरी सफाई चाहिए। दूध उबाल कर दिया जाय। भोजन में ऋतु और अवस्था के अनुसार परिवर्तन होता रहना चाहिए। भोजन की परख यह है कि उस से बच्चे की पाचन-शक्ति अच्छी हो, और वह उसे बड़ी चाह से खाए। प्रति दिन किसी न किसी प्रकार के फल भी देने चाहिए। भोजन सादा हो। खटाई, लाल मिर्च और प्याज़ प्रभृति उत्तेजक वस्तुएँ न हों। इस के अतिरिक्त, बच्चों के कपड़े भी ऋतु के अनुसार बदलते रहने चाहिए। अत्यन्त गरमी, अत्यन्त सरदी और पवन के झोंकों

से उन की रक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक ऋतु में उन्हें खुली वायु में खूब व्यायाम कराना चाहिए। परन्तु इतना नहीं कि शरीर बहुत थक जाय। जब बच्चा चिड़चिड़ा हो और ज़रा-ज़रा सी बात पर खिजलाता हो, तो बच्चे के पेट और कमरे की वायु की स्वच्छता पर ध्यान देना चाहिए। जब बच्चा बीमार हो, तब झट किसी डाक्टर से परामर्श लो और उस के आदेशों का पूरी तरह से पालन करो। समय-समय पर उस की नाक, कान, आँख, दाँत और कण्ठ की विशेष रूप से और सारे शरीर की साधारण रूप से, डाक्टरी परीक्षा कराते रहो। हो सके तो कोई ऐसा डाक्टर या वैद्य ढूँढो जो तुम्हारे बच्चों को पूर्णतया नीरोग रखने की उत्तम विधि बता सके। बाल-स्वास्थ्य-रक्षा पर दो एक अच्छी पुस्तकें भी घर में रखना लाभदायक है। जो माता-पिता अपने बच्चों के स्वास्थ्य और आचार में से केवल एक पर ध्यान देते हैं, वे दोनों ही चीज़ें खो बैठते हैं।

बच्चों को न बहुत भूखे और न बहुत प्यासे होने देना चाहिए। उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्मरण कराते रहना चाहिए, यहाँ तक कि वे उन का स्थिर स्वभाव बन जायँ। प्रातः काल सूर्य से पहले उठने, शौच आदि होकर दतवन और ताज़े पानी से स्नान करने का स्वभाव बचपन से ही डालना चाहिए। भोजन करने के पहिले हाथ धोना और खा चुकने के उपरान्त कुल्ला करना आवश्यक

ठहराना चाहिए। इस के अतिरिक्त बच्चों को समझा देना चाहिए कि नाक, आँख, कान, मुँह इत्यादि में मैली उँगलियाँ न घुसेड़ा करें। इस से देह में अतीव भयानक रोगों के प्रवेश कर जाने का भय रहता है। कई बार आँखें खोई जाती हैं और कान मारे जाते हैं। गंदे तालावों और मैले जलाशयों में नहाने की हानियाँ भी उन्हें बता देनी चाहिए।

बच्चों को सुलाने से पहले उन के हाथ, पैर और मुँह धो देना चाहिए। यदि उन की उँगलियाँ साफ होंगी तो सवेरे उन से आँखें मलने से कोई हानि न होगी। रुग्ण हो जाने पर बच्चे प्रायः औषध नहीं खाते। इस लिए पहले से ही आप उन के सामने औषध खा कर उन का डर निकाल देना चाहिए। जब पिता या माता को कोई रोग हो तो वह बच्चे के सामने ओषधि खाए या लगाए और उसे कहे कि इस के सेवन से मेरी पीड़ा शान्त हो जायगी।

बच्चे को दम-दिलासा दे कर उस की भूख से अधिक खिलाना बहुत बुरा है। इस से पाचन-शक्ति नष्ट होकर भोजन से उसकी सर्वथा अरुचि हो जाती है। जो बालक पेट भर कर खाने की रुचि नहीं रखता, प्रत्युत एक ग्रास इधर से और एक टुकड़ा उधर से उठा कर कुतरता है और वह भी माँ के सौ बार मिन्नतें करने पर, वह निश्चय ही दम-दिलासे का शिकार है। ऐसे बालक के लिए सब से अमोघ ओषधि उपवास है। उसे

बाहर घुमाने ले जाओ, बच्चों के साथ खेलने भेज दो, और जब तक उसे सच्ची भूख न लगे और वह आप रोटी न माँगे, भोजन न दो। लोग भूख से उतने नहीं मरते, जितने अधिक खाने से मरते हैं। भूख लगने पर उसे मिठाई बिलकुल न दो, प्रत्युत कोई पौष्टिक पर शीघ्र पच जाने वाला भोजन दो। रोग की अवस्था में जो चीज़ बच्चे को नहीं देनी चाहिए, वह उस के सामने मत लाओ।

दूसरा खण्ड

स्वभाव की प्रधानता

मनुष्य की चार अवस्थाएँ

पूर्वोल्लिखित प्रारम्भिक बातों के पश्चात् अब हम शिक्षा की वास्तविक रीति को लेते हैं। हम शिक्षा को चार कालों में विभक्त करते हैं।

(क) जन्म से ले कर ढाई वर्ष की आयु तक;

(ख) ढाई वर्ष से सात वर्ष की आयु तक;

(ग) सात से कोई इक्कीस वर्ष तक; तथा—

(घ) कोई इक्कीस वर्ष से आगे।

पहले काल में, जब बच्चे के साथ सुगमता से तर्क नहीं किया जा सकता, आप को अच्छे "स्वभाव" के बनाने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरे काल में, जब बच्चे में आदेशों को समझने के लिए पर्याप्त समझ होती है, उस के चरित्र को मुख्यतः "आज्ञानुवर्तिता" के द्वारा बनाना चाहिए। तीसरे काल में, जब धृति तथा मानसिक शक्तियाँ और भी अधिक विकसित होती हैं, बच्चों के सुधारने का मुख्य साधन "प्रशंसा" होना चाहिए। अन्तिम काल में, स्वाभाविक रूप से, "आत्म निर्देश"—अपनी बुद्धि के भरोसे—से ही काम लेना ठीक है।

इस पर भी दूसरे, तीसरे और चौथे काल में उत्तम स्वभावों का बनना जारी रहना चाहिए; तीसरी और चौथी अवस्थाओं में आज्ञानुवर्तिता पर ज़ोर रहे; और चौथी अवस्था में, आदि से अन्त तक, प्रशंसा की रीति का अवलम्ब करना चाहिए। वास्तव में, ये "चारों रीतियाँ" भिन्न-भिन्न अंशों में, चारों अवस्थाओं पर लागू हैं। इस पुस्तक में पहले, दूसरे और तीसरे काल पर ही बल दिया जायगा।

स्वभाव की प्रधानता—जन्म से लेकर ढाई वर्ष की आयु तक

साधारण विचार

(क) जन्म से ले कर कुछ समय बाद तक बालक की अवस्था बड़ी ही निस्सहाय होती है। आरम्भिक अवस्थाओं में चाहे बालक की आवश्यकताएँ कितनी ही क्यों न हों, पर उस में मुश्किल से ही कोई कामना होती है। बालक के इस प्रथम काल में आप को उसे यह बताने का विचार न होना चाहिए कि तुम्हें ऐसा काम करना चाहिए अथवा ऐसा न करना चाहिए। उस को अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान नहीं होता; और यदि ज्ञान होता भी हो तो उस में उन को पूरा करने की समझ नहीं। फिर यदि ये दोनों बातें भी हों तो भी वह उन को पूरा करने में शारीरिक रूप से असमर्थ है।

(ख) कुछ मास के उपरान्त नियत कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु शारीरिक रूप से वह अब भी अशक्त होता है। इस समय बालक की आवश्यकताएँ एकाधिक होती हैं, परन्तु उन को प्रकट करने की शक्ति उस में नहीं होती। उसे भूख-प्यास, गरमी-सरदी, सुख-दुःख, और चोट आदि का अनुभव होता है। परन्तु रोने के सिवा वह और कुछ नहीं कर सकता। आप को तथा बच्चे की खिलाई-दाई को व्याकुलता

का कारण ढूँढना चाहिए। बच्चों की व्याकुलता के कारणों की एक प्रायः पूर्ण सूची नीचे दी जाती है—

"सोने की इच्छा, बहुत जागना, गरमी, सरदी, भूख-प्यास, मर्यादा से अधिक खा जाना, भोजन का अनुकूल तथा रुचिकर न होना, बे आरामी, कांटा, चुनचुने आदि कीड़े, शरीर पर तंग कपड़े, करने के लिए काम न होना, करने के लिए किसी रम्य अथवा नवीन बात का न होना, चोट, पीड़ा (सारे शरीर पर हाथ फेर कर देखो), बालक चाहता है कि मुझे उठा लो, वह चाहता है कि मुझे गोदी से उतार दो, बैठना चाहता है, अपने निकट की किसी चीज़ (शोर, इत्यादि) को पसंद नहीं करता, बच्चा बिगड़ा हुआ है, अपने आप को पलटाना चाहता है, उसे किसी वस्तु की आवश्यकता है, भीगा हुआ है, मैला है, उस ने मूत या हग दिया है, डरा हुआ है, रोगी है, इत्यादि।"

(ग) अठारह मास का हो जाने पर बालक कुछ-कुछ अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को बताने लग जाता है। वह थोड़े से, परन्तु बहुत ही उपयोगी शब्द भी सीख लेता है। अपने लिए वह अनेक बातें कर सकता है। वह कुछ आज्ञाओं को समझता और उन के अनुसार कार्य कर सकता है, यद्यपि उस कार्य की सीमा बहुत ही संकुचित होती है।

इन तीनों अवस्थाओं को आप के बालक को लाँघना पड़ता

है। बालक की शिक्षा का रूप कैसा होना चाहिए, यह बात कुछ आप के उद्देश्य पर अवलम्बित है। यदि "आप उन्हें सधा कर योग्य नागरिक, उत्साही कार्यकर्त्ता, बलवान् व्यक्ति और दयालु पड़ोसी" बनाना चाहते हैं, तो उनकी शिक्षा में आरम्भ से ही आप को इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए। आरम्भ में पहले-पहल बच्चा आप की आज्ञाओं को नहीं समझ सकता; और यदि समझ भी सके तो उन का पालन करने में वह असमर्थ है। इस लिए उस समय शिक्षा—उपदेश—बिलकुल नहीं दी जा सकती। फिर भी, 'सधने से यहाँ एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा हो सकता है।" वास्तव में बच्चे के पहले ढाई वर्ष बड़े ही महत्त्व के हैं, क्योंकि इन्हीं में उस के भविष्य की नींव रखी जाती है।

यद्यपि इस समय आप आदेश देकर बालक से कोई काम नहीं करा सकते, तो भी आप उस पर संस्कार अवश्य डाल सकते हैं; "आप उसे ऐसी अवस्था में रख सकते हैं जो आप को पसंद हो; आप उस के साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं, जैसा आप उचित समझते हों।" शक्तियाँ बहुत परिमित होने के कारण, बच्चा आप को मात करने के लिए कुछ नहीं कर सकता। उस की स्मरण-शक्ति निर्बल होती है, इस लिए वह द्वेष नहीं कर सकता। वह न आप के कपट-प्रबन्धों को ताड़ सकता है और न उन को मात करने के लिए अपनी कल्पनाएँ ही तैयार कर सकता है। इस लिए यदि आप को

इस बात का ज्ञान हो कि मुझे क्या करने की आवश्यकता है और मैं क्या करने का विचार रखता हूँ, और आप सोच-समझ कर चलें तो बालक की इस असहाय अवस्था में उस के सधाने में आप को बहुत सहायता मिल सकती है।

युवक इतना स्वतंत्र हो जाता है कि उसे किसी निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। और यदि उसे अपने-आप को किसी विशेष नमूने पर ढालने की इच्छा उत्पन्न हो भी, तो बाल्य काल से बने हुए स्वभावों के कारण उस के संकल्प टूट जाते हैं। परन्तु बच्चे की यह बात नहीं। गीली मिट्टी की तरह आप उसे चाहे जो बना सकते हैं। आप को उस की प्रकृति का ज्ञान हो जाय तो आप की सफलता अवश्यम्भावी है।

आप को एक और बात पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। 'आप चाहे कुछ भी करें, आप के बालक को उचित भोजन मिलना चाहिए, उसे आरोग्य-वर्धक, शारीरिक एवं मानसिक व्यायाम नियम पूर्वक कराया जाय, दिन-रात वह स्वच्छ वायु में रहे, उस का स्नान, खेल कूद, विश्राम, सोना और जागना सब नियम पूर्वक हों।" इस समय आप चाहें जैसे स्वभाव डाल सकते हैं। इस लिए "पहले काल में आप का मुख्य उद्देश्य उत्तम स्वभावों का डालना होना चाहिए" और इस कार्य को पूरा करने के लिए एक "उपयुक्त और बच्चे को अगली अवस्थाओं के लिए तैयार करने वाला व्यवहार" चाहिए।

प्रत्येक बात में व्यवस्था होनी चाहिए

प्रत्येक बात को उचित नियम से करने से जहाँ बालक की युक्ति-संगत आवश्यकताएँ पूरी हो जायँगी, वहाँ साथ ही शारीरिक और मानसिक दुर्बलता की वृद्धि भी रुक जायगी। अनुकूल अवस्थाओं में बालक, बिना जाने ही, अपने-आप अच्छे स्वभाव ग्रहण करता जायगा, और बड़े होने पर जब उसे इन स्वभावों का ज्ञान होगा, तब ये उसे स्वाभाविक जान पड़ेंगे। बालक की प्रकृति हँस-मुख हो जायगी; मन चिन्तन का कार्य योग्यता से करने लगेगा; और इच्छा को वश में रखना सरल हो जायगा। नियमपरता अथवा व्यवस्थिति में हम निम्नलिखित स्वभावों को गिनते हैं—

(क) बालक को नियमित समय पर सुला देना चाहिए। खाट पर लिटाया हुआ बालक चाहे अभी जाग रहा हो, उस के पास न कोई व्यक्ति बैठाया जाय और न दीपक हो जलता रखा जाय।

(ख) बालक को नियमित समय पर जगाना चाहिए और निद्रा के घंटे उस की आयु के अनुसार ठीक कर देने चाहिए।

(ग) यदि स्वास्थ्य आज्ञा दे तो उस का स्नान और भोजन

एक नियमित स्थान में और नियमित रीति से यथाविधि होना चाहिए। न तो वह रोटी को ले कर खेलता फिरे और न भोजन के नियत समयों के बीच सब समय खाता रहे।

(घ) प्रायः प्रत्येक ऋतु में उसे कम से कम दिन में दो बार निर्दिष्ट समयों पर (कम से कम डेढ़ घंटे की) नियत अवधि के लिए बाहर खुली वायु में व्यायाम अथवा भ्रमण के लिए जाना चाहिए।

(ङ) ढाई वर्ष की आयु में उसे स्नान तथा भोजन आप करना और वस्त्र आप पहनना आरम्भ कर देना चाहिए।

(च) वह न तो दर्पण, लेम्प, घड़ी, चाकू, उस्तरा, छड़ी आदि टूट जाने वाली अथवा हानि पहुँचाने वाली वस्तुओं को हाथ लगाने की चेष्टा करे और न वे वस्तुएँ माँगे जो दूसरों की हैं।

(छ) भोजन के पहले उसे सदा हाथ-मुँह धो लेना चाहिए। उसे साफ-सुथरा रहने के लिए सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

(ज) उसे रुमाल रखने और उस का उपयोग करने का स्वभाव होना चाहिए। वह मैले-कुचैले हाथ कमीज़ और धोती से न पोंछे।

(भ) तन्दुरुस्ती की अवस्था में उस की नैसर्गिक आवश्यकताओं को निर्दिष्ट एवं उचित अन्तरों पर पूरा करते रहना चाहिए।

(ञ) वह बड़ी प्रसन्नता से "जी", "धन्यवाद", "नमस्ते", "प्रणाम", "आप अच्छे तो हैं?" इत्यादि शिष्टाचार की बातें कहने लगे, और—

(ट) उसे क्रमशः इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना सिखाना चाहिए कि प्रत्येक बात अपने उचित एवं योग्य स्थान पर ही अच्छी लगती है।

यह तो हुई व्यवस्थिति—प्रत्येक बात को क्रम से करने—की बात। ये स्वभाव आप के लिए तथा आप के बालकों के लिए सुखदायक सिद्ध होंगे। यदि व्यवहार युक्ति-संगत, दृढ़ और पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित होगा, तो इन स्वभावों को सीखने में भी कोई कठिनाई न होगी। वे बालक को सच्ची स्वतन्त्रता देंगे, और बुरे स्वभावों को सुधारने का ही नाम शिक्षा न हो जायगा।

"पहले तो बच्चे को काम के लिए कहो ही बहुत कम; फिर जो काम कहो भी, वह ऐसा हो जिस की तर्क से पुष्टि की जा सके"; अपनी युक्तियों को थोड़े से शब्दों में स्पष्ट रूप से बता दो; और इस के लिए डाट-डपट, वाद-विवाद, अनुनय-

विनय, दण्ड अथवा जोर से बोले बिना हँस-मुख रीति से अपनी आज्ञा का पालन कराने पर बल दो। "वाद-विवाद से चाहे वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो, आज्ञा न मानने का भाव और बद मिजाजी बढ़ती है।" यदि आप कहते हैं कि मैं अमुक बात करूँगा, तो उसे चट-पट कर दीजिए, और अपने कथन को फिर मत दुहराइए। यदि बच्चा स्वस्थ हो और उस की आयु अठारह मास से अधिक हो, तो तब वह किसी अनुचित बात के लिए रोए, तब उसे दो तीन बार, दिक् किए बिना, चुप-चाप रो लेने दो, यहाँ तक कि वह रोता रोता थक जाय। इस का फल यह होगा कि वह भविष्य में ऐसी अवस्थाओं में बहुत कम रोएगा।

शायद आपको ऐसा जान पड़े कि जिस कठोर नियमपरता का यहाँ उपदेश दिया गया है, उस से बालक ऐसा जीव बन जायगा जो यंत्र के सदृश, सोचे-समझे बिना, एक ही रीति से काम करता रहेगा; क्योंकि उस के हाथ पाँव रीति और स्वभाव की शृङ्खला में जकड़े हुए होंगे। परन्तु हमारा उद्देश्य तो इस के विपरीत परिणाम पैदा करना है। प्रतिदिन की घटनाओं में, क्या स्कूल में और क्या घर पर, नियमपरता के अभाव से चित्त की लोलता, समय और विचार का व्यर्थ नाश, उन्नति में बाधा, निरन्तर दुःख एवं चिन्ता, और आत्म-संयम का अभाव उत्पन्न हो जाता है। नियमपरता की आवश्यकता का सब से बड़ा कारण यह है कि "शरीर की कुछ नियत

आवश्यकताएँ हैं" और वे नियत रीति से ही ठीक तौर पर पूरी की जा सकती हैं।

किन-किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए, यह मालूम कर लेने से आप बहुत सी फालतू चिन्ता से बच सकते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चों को इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए—"समय-पालन, फुरतीलापन, सौम्यता, नियमितता, धीरता, पवित्रता, उद्यम, अच्छे साथी चुनना, विद्या, प्रकृति और कला से प्रेम, आदर, सरल जीवन, अनावश्यक वस्तुओं से घृणा, और विचार-शीलता।" आप को देखते रहना चाहिए कि बच्चे इन बातों का पालन निःसंकोच भाव से कर रहे हैं। यदि आप बच्चों में अच्छे स्वभाव नहीं डालेंगे, तो वे अपने-आप बुरे स्वभाव ग्रहण कर लेंगे। यह नहीं हो सकता कि वे कोई स्वभाव ग्रहण ही न करें।

बच्चे का जीवन सरल होना चाहिए। भोजन सादा, पौष्टिक और शीघ्र पचने वाला हो। खटाई, तेल, लालमिर्च, अचार, मुरब्बे, गरम मसाले, चाय, कहवा, तमाकू, अधिक नमक, मांस, मदिरा, अण्डा, मछली, प्याज़, लहसुन, मैदे के पकवान, महीन आटे की सफेद रोटी, इन सब का त्याग कर देना चाहिए। मिठाई का खाना यदि आवश्यक ही हो, तो उसे रोटी के पीछे, भोजन के एक भाग के रूप में, खाना चाहिए। उसे भोजन के पहले या रोटी के स्थान में कभी न खाना

चाहिए। रात को वड़े, पकोड़ियाँ, और देर से पचने वाली अन्य गरिष्ठ वस्तुएँ खाना भी छोड़ देना चाहिए।

बच्चे को न तो सदा गोद में बिठा रखना चाहिए, न उसे उठाए ही फिरना चाहिए, अथवा सब समय उस की चिन्ता में ही न रहना चाहिए। उसे दूसरों की सहायता का मुहताज न रहना चाहिए, और ढाई वर्ष की आयु होने पर उस की हाथ पैर फेंकने और खेलने की बान बहुत बढ़ जानी चाहिए। बच्चे के पास रहने परन्तु सदा उसी की देख-रेख में न लगे रहने, और बच्चों को ऐसे ढंग से रखने से कि वह अपने रखवाले को न देख सके, हठी से हठी बच्चे में भी दूसरों के आश्रय न रहने का स्वभाव हो जायगा।

बच्चे की प्रकृति हँस मुख, प्रफुल्ल एवं प्रसन्न बनाओ, ऐसी प्रकृति बनाओ जिस में से सुख की किरणें निकलती हों, न कि वह जो सुख को किसी एक काम या वस्तु में पाने की आशा करती हो। हमें यह मालूम होना चाहिए कि हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं; न कि हम किन वस्तुओं की आवश्यकता समझते हैं। विलास की सामग्री और ईर्ष्या तथा द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुओं पर आसक्ति का बढ़ाना उत्तम जीवन नहीं।

इच्छा-शक्ति का प्रबन्ध

हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालक पहले काल के अन्त के निकट से ले कर आगे तक, "जो कुछ सत्य और युक्ति-संगत है, उसे निःसङ्कोच भाव से, चतुराई से, उपाय से, सुन्दरता से, प्रसन्नता से, उद्यम से, 'उत्सुकता से, उत्साह से और शीघ्रता से कहने का प्रयत्न करने लगे।" इस प्रधान एवं व्यापक गुण के अभ्यास के लिए सभी अवस्थाओं में प्रचुर अवसर है। इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि "बच्चों को कभी कोई युक्ति-रहित बात करने के लिए न कहा जाय, नहीं तो हमें पूर्ण विफलता होगी।" और इस के अतिरिक्त बालक रोगी, दुःखी, अथवा दम्भी बन जायँगे। इस सम्बन्ध में जिन स्वभावों को ग्रहण करना चाहिए, उन में से कुछ एक यहाँ दिए जाते हैं।

(क) जब बच्चा कोई अनुचित बात कर बैठे तो उसे "मुझे क्षमा कीजिए" आदि कोई वाक्य कहना चाहिए। परन्तु इस वाक्य का संमान होना चाहिए। ऐसा न हो कि इसे एक तुच्छ बात समझ कर वह बार-बार कहता रहे और अपनी असावधानी को दूर करने का कुछ यत्न ही न करे।

चाहिए। रात को बड़े, पकोड़ियाँ, और देर से पचने वाली अन्य गरिष्ठ वस्तुएँ खाना भी छोड़ देना चाहिए।

बच्चे को न तो सदा गोद में बिठा रखना चाहिए, न उसे उठाए ही फिरना चाहिए, अथवा सब समय उस की चिन्ता में ही न रहना चाहिए। उसे दूसरों की सहायता का मुहताज न रहना चाहिए, और ढाई वर्ष की आयु होने पर उस की हाथ पैर फेंकने और खेलने की बान बहुत बढ़ जानी चाहिए। बच्चे के पास रहने परन्तु सदा उसी की देख-रेख में न लगे रहने, और बच्चों को ऐसे ढंग से रखने से कि वह अपने रखवाले को न देख सके, हठी से हठी बच्चे में भी दूसरों के आश्रय न रहने का स्वभाव हो जायगा।

बच्चे की प्रकृति हँस मुख, प्रफुल्ल एवं प्रसन्न बनाओ, ऐसी प्रकृति बनाओ जिस में से सुख की किरणें निकलती हों, न कि वह जो सुख को किसी एक काम या वस्तु में पाने की आशा करती हो। हमें यह मालूम होना चाहिए कि हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं, न कि हम किन वस्तुओं की आवश्य कता समझते हैं। विलास की सामग्री और ईर्ष्या तथा द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुओं पर आसक्ति का बढ़ाना उत्तम जीवन नहीं।

इच्छा-शक्ति का प्रबन्ध

हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालक पहले काल के अन्त के निकट से ले कर आगे तक, "जो कुछ सत्य और युक्ति-संगत है, उसे निःसङ्कोच भाव से, चतुराई से, उपाय से, सुन्दरता से, प्रसन्नता से, उद्यम से, उत्सुकता से, उत्साह से और शीघ्रता से कहने का प्रयत्न करने लगे।" इस प्रधान एवं व्यापक गुण के अभ्यास के लिए सभी अवस्थाओं में प्रचुर अवसर है। इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि "बच्चों को कभी कोई युक्ति-रहित बात करने के लिए न कहा जाय, नहीं तो हमें पूर्ण विफलता होगी।" और इस के अतिरिक्त बालक रोगी, दुःखी, अथवा दम्भी बन जायँगे। इस सम्बन्ध में जिन स्वभावों को ग्रहण करना चाहिए, उन में से कुछ एक यहाँ दिए जाते हैं।

(क) जब बच्चा कोई अनुचित बात कर बैठे तो उसे "मुझे क्षमा कीजिए" आदि कोई वाक्य कहना चाहिए। परन्तु इस वाक्य का संमान होना चाहिए। ऐसा न हो कि इसे एक तुच्छ बात समझ कर वह बार-बार कहता रहे और अपनी असावधानी को दूर करने का कुछ यत्न ही न करे।

(ख) नियत सूचनाओं का निःसंकोच भाव से पालन किया जाय।

(ग) बालक को घुड़कना और शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए, उस को किसी काम के लिए आदेश देते अथवा उस के किसी अपराध के लिए निन्दा करते समय ऊँचा बोलने के स्थान में धीमे स्वर से बोलना चाहिए।

(घ) जब उसे किसी काम के लिए आदेश करना हो अथवा किसी बात की मनाही करनी हो, तब साधारणतः बात-चीत के रूप में कहना चाहिए।

(ङ) जो काम करना बच्चों का कर्तव्य है, उस के लिए न कभी उन्हें पुरस्कार देना चाहिए और न उन्हें लेना ही चाहिए। कर्तव्य-बुद्धि के अतिरिक्त प्रेमपूर्ण प्रशंसा, अथवा दुःखपूर्ण निन्दा, अथवा नैतिक स्वीकृति या नैतिक अस्वीकृति ही उन को उत्तेजना का काम दे। बच्चे स्वाभाविक रीति से प्रसन्नता-पूर्वक सदुपदेश पर आचरण करें।

(च) जिस बात से बालक को यथार्थतः रोका गया हो, रोने-पीटने पर उसे उस की अनुमति न दे देनी चाहिए। यह बात परम आवश्यक है, क्योंकि बड़े हो जाने पर जब बालकों को मालूम हो जाता है कि रोने से कुछ लाभ नहीं, तब वे फिर नहीं रोते; और यदि रोते भी हैं तो केवल दो एक मिनट

के लिए, अथवा जिस समय उन्हें पीड़ा हो रही हो उस समय।

(छ) जब बालक कोई वस्तु माँगते या कोई अन्य प्रार्थना करते हैं, तब माता-पिता प्रायः कह देते हैं कि "तनिक ठहरो।" यह कहना बुरा नहीं; परन्तु अनेक माता-पिता बच्चों को बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर विवश करते हैं। वे शीघ्र ही उन की माँग पर ध्यान नहीं देते। इस से बच्चे में धीरज नहीं वरन् अधीरता उत्पन्न होती है। इस लिए बच्चों की प्रार्थना पर तुरन्त ध्यान देना चाहिए और उत्तर के लिए उसे अनियत समय तक प्रतीक्षा में नहीं रखना चाहिए।

(ज) बच्चा यथार्थ आचरण ईर्ष्या के भाव से प्रेरित होकर न करे। जब वह किसी वस्तु को ग्रहण करने से इन्कार करे, तब उसे, उदाहरणार्थ, यह नहीं कहना चाहिए कि इसे ले लो, नहीं तो इसे बिल्ली ले जायगी, अथवा तुम्हारा भाई या दूसरा कोई व्यक्ति ले जायगा।

(झ) जो कुछ हम चाहते हैं बच्चे वही करें, इस उद्देश्य से हमें उन को खिझाना नहीं चाहिए। और न, जब तक बच्चे सधे हुए न हों, आज्ञापालन कराने के लिए यह कहना चाहिए कि यदि तुम कहना नहीं मानोगे, तो मैं तुम पर प्रेम नहीं करूँगा। बच्चे की कभी हँसी नहीं उड़ानी चाहिए और न ही

उस के साथ व्यवहार करते समय कभी "शिष्टता और शुद्ध व्यवहार" को हाथ से छोड़ना चाहिए।

(ज) जब बालक को किसी बात की आवश्यकता हो, तब उसे, उदाहरणार्थ, यह कह कर कि 'वह देखो, कबूतर आया', उस के ध्यान को दूसरी ओर नहीं फेर देना चाहिए। केवल शैशव अवस्था में (मान लीजिए, अठारह मास की आयु तक) अथवा रोग में ही बच्चे के ध्यान को इस प्रकार दूसरी ओर फेर देने की रीति से काम लेना चाहिए, और वह भी बहुत कम।

समझदार और दृढ़ संकल्प माता पिता उपर्युक्त निषिद्ध बातों का कभी आश्रय नहीं लेंगे और न उन्हें कभी इन की आवश्यकता ही पड़ेगी। इन निषिद्ध बातों और खिझाने की सहायता से जो बात भारी परिश्रम करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह अटल दृढ़ता, सावधान चिन्ता और हँसमुख प्रकृति द्वारा सहज में उपलब्ध की जा सकती है। अच्छी रीति से सधे हुए बालक पर जितना परिणाम प्रशंसा अथवा निन्दा के एक कटाक्ष का होता है, उतना बुरी रीति से सधे हुए बालक पर मार-पीट का नहीं होता।

"नियमित उत्तम स्वभाव, सादा जीवन, और सधी हुई इच्छा" माता पिता और बालक दोनों के काम को अपेक्षाकृत हलका कर देती है।

इच्छा को दबाओ मत, फेर दो

स्वभाव से ही बालक निचला नहीं बैठ सकता। उस की नाड़ियाँ और पुट्ठे बल के भरे हुए भण्डार हैं। वे काम करने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। शिक्षा का सब से बड़ा कर्तव्य बालक की इस स्वाभाविक कार्य-शक्ति को दबा देना नहीं, प्रत्युत उसे उचित रीति पर चलाना है। मन की वृत्तियों को पहले पहल चाहे किसी ओर लगा लो, कोई मुश्किल नहीं पड़ती। परन्तु एक बार जब वे दृढ़ होकर स्वभाव बन जाती हैं, तब फिर उन का बदलना बहुत कठिन हो जाता है।

बच्चे को चंचल होने का अधिकार है। माता-पिता तथा खिलाई को ध्यान रखना चाहिए कि यदि बच्चा रुग्ण न हो, तो वह सदा कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा।

बालक ऐसे काम करने लग जाता है, जो उसे करने नहीं चाहिए। वह ऐसी वस्तुओं को छेड़ने लगता है जिन के टूट जाने का डर रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक नहीं कि उस से बलपूर्वक वह वस्तु छीन ली जाय। ऐसी अवस्था में उसे एक दूसरा ऐसा खिलौना दे कर, जिसे वह नया या

अधिक सुन्दर होने अथवा किसी अन्य कारण से अधिक पसंद करता हो, उस के ध्यान को दूसरी ओर फेर देना अच्छा है। जब बालक से वस्तुएँ बलपूर्वक छीन ली जायँगी, तब स्वभावतः वह चिल्लायगा। इस के लिए कोई उसे दोषी नहीं ठहरा सकता। परन्तु यदि उस के ध्यान को दूसरी ओर फेर दिया जाय, तो वह अपने आप ही निषिद्ध वस्तु को फेंक देगा। इस प्रकार न वह रोवेगा और न अनिष्ट ही करेगा। बच्चों से निन्दनीय और हानिकारक स्वभावों को छुड़ाने में भी इसी नीति से काम लेना चाहिए। प्रायः बच्चे पेन्सिलों को मुख में डाल लेते हैं। इस से डर रहता है कि उन के गिर पड़ने से पेन्सिल की नोक टूट कर उन के कण्ठ में न चली जाय। यदि उन्हें इस से मना किया जाय, तो वे और भी अधिक डालने लगते हैं, और परोक्ष में इसे एक स्वभाव ही बना लेते हैं। परन्तु यदि आप उस पेन्सिल को लम्बाई की ओर से बीच में से मुँह में पकड़ने को कहेंगे, तो वह प्रसन्नता पूर्वक पेन्सिल की नोक को मुँह में डालना बन्द कर देगा। इस प्रकार एक हानिकारक स्वभाव की जड़ कट जायगी।

एक पागल-खाने के एक दारोगा की एक कहानी है। वह दारोगा एक दिन किसी दूसरे नगर में एक पागल खाना देखने गया। वह अभी उस उन्मादाश्रम की वाटिका में ही घूम रहा था कि एक महाशय उस के निकट आए और कहने

लगे—"मैं यहाँ का डाक्टर हूँ और पागलों का निरीक्षण किया करता हूँ। दोनों महाशयों ने सहकारी होने के कारण एक दूसरे से हाथ मिलाया। उन्हें इकट्ठे मिल कर घूमने और परस्पर के वार्तालाप से बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। अंत को दर्शक महाशय को लकड़ी की एक बहुत ऊँची लाट दिखाई गई। उस लाट पर खड़े होकर समूचे उन्मादाश्रम और उस के चारों ओर का दृश्य भली भाँति देख पड़ता था। जब वे दोनों लाट के शिखर पर पहुँचे, तब डाक्टर ने दारोगा से कहा कि यहाँ से नीचे छलांग मारो, क्योंकि जितने दर्शकों को मैं यह संस्था दिखलाया करता हूँ, उन सब को इस लाट पर से नीचे कूदना पड़ता है। अब तो दारोगा जी बहुत डरे। उन्होंने झट समझ लिया कि यह तो कोई पागल है, जो किसी प्रकार अपने पहरेदार से बच कर निकल आया है, और जैसा कि पागल प्रायः किया ही करते हैं, अब तक स्वस्थ लोगों की तरह बातें करता रहा है। अब उस बनावटी डाक्टर के मुख पर पागलपन के दौरे के सब लक्षण प्रकट होने लगे, और दर्शक उस के आक्रमण से अपनी रक्षा का कोई उपाय ढूँढ़ने लगा। लाट की चोटी पर चबूतरा बहुत तंग था, इस लिए यदि वे आपस में झगड़ पड़ते तो दोनों के दोनों बहुत दूर नीचे गिर पड़ते। दारोगा जी पागलों के स्वभाव से भली भँति परिचित होने के कारण, सर्वथा शान्त रहे और बड़े धैर्य के साथ अपने साथी से बोले—"क्या आप चाहते हैं कि मैं लाट

पर से नीचे कूद पड़ूँ ? यह तो बड़ी साधारण सी बात है। ऐसा तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। कठिन तो नीचे से ऊपर को छलाँग मारना है। नीचे चलिए, मैं आप को बताता हूँ कि कैसे कूदना चाहिए। तब तो पागल चकित रह गया और पूछने लगा—"क्या आप सच-मुच ऐसा कर सकते हैं?" दर्शक ने उत्तर दिया—"क्यों नहीं, मैं अवश्य कर सकता हूँ। नीचे चलिए, मैं आप को उछल कर दिखाता हूँ।" इस प्रकार चतुर दर्शक ने पागल की भयंकर कल्पना को दूसरी ओर फेर दिया, और उसे नीचे उतार कर ऐसे स्थान में ले गया जहाँ उसे स्वयं हानि का भय न था। वे अभी नीचे भूमि पर उतरे ही थे कि पहरेदार आ पहुँचा और उस भगोड़े को पकड़ ले गया। इस कथा से क्या शिक्षा मिलती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। तमोगुण-प्रधान प्रकृति वाले लोगों, जनता के उत्तेजित समूहों और बच्चों के साथ व्यवहार करते समय दारोगा जी की नीति का अनुकरण करना बहुत लाभ-दायक होता है।

बच्चे भी अपनी स्वतंत्रता से उतना ही प्रेम करते हैं; जितना कि वयस्क स्त्री-पुरुष। वे नहीं चाहते कि उन को कोई दूसरा आदेश दे। दूसरे के प्रभुता-पूर्वक दिए हुए आदेश का उल्लङ्घन करने और आज्ञा-भङ्ग करने में उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है। बच्चों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उनके दृष्टि-कोण

को समझ कर उस के अनुसार कार्य करने की आवश्यकता है।

मानवी सम्बन्धों के विशेषज्ञ, प्रसिद्ध अमेरिकन ग्रन्थकार श्री० डेल कारनेगी अपनी एक पुस्तक—"लोक-व्यवहार"—में लिखते हैं कि उन के मकान के निकट एक छोटा सा उपवन था। वहाँ के गुल्म एवं तरु-लताएँ बड़ी शोभा देती थीं। कारनेगी महाशय को उन्हें देख कर बड़ी प्रसन्नता होती थी। सरकार ने उपवन को आग से नष्ट होने से बचाने के उद्देश्य से वहाँ आग जलाने का कड़ा निषेध कर रखा था। आग जलाने वाले के लिए कैद और जुर्माना दोनों का दण्ड था। परन्तु फिर भी बच्चे वहाँ जाते और आँख बचा कर आग जला देते। उस से तरु-लताओं की घोर हानि हो जाती। श्री० कारनेगी ने भी दो एक बार बच्चों को आग जलाते पकड़ा, डॉट-डपट की, और गिरफ्तार कराने की धमकी दी। उन को आते देख बच्चे आग बुझा देते, इधर-उधर भाग जाते, या फिर आग न जलाने को कहते, परन्तु, कारनेगी महाशय के दृष्टि से ओझल होते ही, वे फिर आग जला देते। इस प्रकार कारनेगी महाशय की चेतावनी का उन पर कोई फल न होता। तब श्री० कारनेगी ने अपनी कार्य शैली को बदलने का निश्चय किया। बच्चों पर प्रभुता दिखलाने के बजाय उन्हों ने दूसरे ही ढंग से उन का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया। वे लड़कों के निकट जाकर उन से सहानुभूति दिखलाते हुए, बोले—

"लड़को, खूब मौज़ कर रहे हो न? खाने के लिए क्या पका रहे हो?... जब मैं लड़का था, मुझे भी आग जलाना बहुत भाता था—और अब भी अच्छा लगता है। परन्तु तुम जानते हो, यहाँ वाटिका में आग जलाना बड़ा भयावह है। मैं जानता हूँ, लड़को, तुम तो कोई हानि नहीं करना चाहते; दूसरे लड़के उतने सावधान नहीं होते। वे यहाँ आकर देखते हैं कि तुम ने आग जलाई है, इस लिए वे भी आग जलाते हैं और घर लौटते समय उसे बुझाते नहीं; और वह सूखे पत्तों में फैल कर पेड़ों की हत्या कर डालती है। यदि हम अधिक सावधान न रहेंगे तो यहाँ एक भी पेड़ न बचेगा। यह आग जलाने के लिए तुम जेल भेजे जा सकते हो। परन्तु मैं प्रभुता दिखलाना और तुम्हारे रंग में भङ्ग डालना नहीं चाहता। मैं तुम्हें अपने आप आनन्द मनाते देखना चाहता हूँ, परन्तु क्या तुम अब सारे पत्तों को इकट्ठा कर के आग से दूर हटा देने की कृपा न करोगे—और यहाँ से जाने के पूर्व आग पर मिट्टी डाल कर इसे ढक न दोगे? और अगली बार जब तुम कोई कौतुक करना चाहो, तो क्या तुम कृपा कर के उस टीले पर रेत के गड्ढे में आग न जलाओगे? वहाँ यह कोई भय उत्पन्न नहीं कर सकती। बस इतनी ही बात है लड़को। खूब आनन्द करो।"

इस प्रकार की बात-चीत ने कितना अन्तर उत्पन्न कर

दिया! उस ने लड़कों में सहयोग देने की इच्छा उत्पन्न कर दी। कोई अप्रसन्नता नहीं, कोई क्रोध नहीं, उन को आज्ञा-पालन के लिए विवश नहीं किया गया। उन की मान-मर्यादा सुरक्षित रही थी। वे पहले से अच्छा अनुभव करते थे और कारनेगी पहले से अच्छा अनुभव करते थे, क्योंकि उन के दृष्टि-कोण से उन्हों ने विचार के साथ स्थिति को संभाला था।

जहाँ तक हो सके, बालकों से ज़ोर देकर कोई बात नहीं करानी चाहिए। उन की इच्छा को तोड़ना नहीं, वरन् उसे फेर कर किसी दूसरी ओर लगा देना चाहिए। हम प्रतिज्ञा-पूर्वक कहते हैं कि तोड़ी हुई इच्छा एक निर्बल इच्छा होती है, और बलवती इच्छा की अपेक्षा निर्बल इच्छा अधिक हठीली होती है। फिर लाभ ही क्या हुआ? हठीलापन ही तो रोग था। जिस की चिकित्सा इच्छा के टूटने से होनी थी।

परिणाम प्राप्त कर लेता है, वैसे ही बुरे बालक को सुधारने के लिए रीति में यथोचित परिवर्तन कर लेना चाहिए। कई बार बुरे बालक को बच्चे में से उसी प्रकार बाहर खींच लेना ठीक होता है जिस प्रकार कि एक दन्त-वैद्य दाँत को निकाल लेता है। इस के लिए एक पेचकस ले कर जैसे बोतल का काक खोलते हैं, वैसा ही करना चाहिए। एक और अत्युत्तम विधि यह है कि मोचने का प्रयोग किया जाय। बालक से कहना चाहिए कि मुँह खोल कर दिखलाओ, क्योंकि बुरा बालक इस के भीतर उस स्थान पर बैठा हुआ है जहाँ से चीखें निकला करती हैं। मुँह खोलने से स्वभावतः ही चीखें बंद हो जायँगी।

अब तुम भीतर बैठे हुए रोने वाले छोटे दूसरे बालक के विषय में, जिसे कि मोचने से पकड़ना आवश्यक है, कुछ बातें बता सकते हो। बच्चे से कहो—"निचले हो कर बैठे रहो, हिलो मत। मैं उसे मोचने से पकड़ कर बाहर निकालता हूँ। फिर तुम हमारे वही अच्छे बालक बन जाओगे।" इस प्रकार के प्रयोगों का बहुत ही उत्तम फल होता है। बच्चा शीघ्र ही क्रोध, ईर्ष्या और द्वेषादि दुर्गुणों से मुक्त होने की आवश्यकता समझने लगता है।

किसी भी अवस्था में बालक पर करुणा

इस में दो सिद्धान्तों को मिला देना लाभदायक प्रतीत होता है। एक तो बच्चे को उस कार्य से विरक्त कर देना जिस से उस का बुरा व्यवहार उत्पन्न हुआ था, और दूसरे उस की दुर्जनता को एक बुरे बालक के रूप में प्रकट करना, जो उस बच्चे के भीतर प्रवेश कर गया है। बच्चे से कहो कि तुम में एक छोटा सा दुष्ट बालक घुसा हुआ है, जल्दी आओ, उसे निकाल दें। तब उस कल्पित बुरे बालक को ढूँढ़ना आरम्भ करो। इस अनुसधान में बच्चे को बड़ा आनन्द प्राप्त होगा, और शीघ्र ही परिहास को समझ कर वह प्रसन्नता पूर्वक चमकती हुई आँखों के साथ उस नन्हें से "भूत" को, जिसे वह अपने दुष्ट व्यवहार का कारण समझने लगेगा, बाहर निकालने में सहायता देगा।

दुष्ट बालक का सुधार

बालक जब एक बार दुष्ट बन जायँ, तब फिर उन्हें सुधारने में एक विशेष कठिनाई होती है। वे चिल्लाते हैं, रोते-पीटते हैं, और किसी प्रकार समझाने पर भी नहीं मानते। उन की दुष्ट-प्रकृति उन का एक अंग बन जाती है। इस से वे अपने हठ-त्याग को स्वभावतः ही अपनी पराजय समझने लग जाते हैं।

ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? क्या उस की इच्छा को तोड़ डालना चाहिए; अथवा उस के सामने सिर झुका कर जो वह कहे, करने देना चाहिए? इन में से कोई भी बात ठीक नहीं है। एक ओर तो इच्छा को तोड़ने के स्थान में उसे बलवती बनाना चाहिए और दूसरी ओर उस के आगे सिर झुकाने के स्थान में उसे अपने पीछे लगाना और उस की प्रवृत्तियों के अनुसार उसे मार्ग दिखाना चाहिए।

यदि बच्चे की दुष्टता को एक ऐसी वस्तु समझ लिया जाय जिस ने कि बच्चे को दबा रक्खा हो, या उसे एक ऐसा मानसिक विष समझ लिया जाय जिसे कि उस की मानसिक देह से निकाल देना आवश्यक है, तो सुधार में बड़ा सुभीता हो सकता है।

इस में दो सिद्धान्तों को मिला देना लाभदायक प्रतीत होता है। एक तो बच्चे को उस कार्य से विरक्त कर देना जिस से उस का बुरा व्यवहार उत्पन्न हुआ था, और दूसरे उस की दुर्जनता को एक बुरे बालक के रूप में प्रकट करना, जो उस बच्चे के भीतर प्रवेश कर गया है। बच्चे से कहो कि तुम में एक छोटा सा दुष्ट बालक घुसा हुआ है, जल्दी आओ, उसे निकाल दें। तब उस कल्पित बुरे बालक को ढूँढ़ना आरम्भ करो। इस अनुसंधान में बच्चे को बड़ा आनन्द प्राप्त होगा, और शीघ्र ही परिहास को समझ कर वह प्रसन्नता पूर्वक चमकती हुई आँखों के साथ उस नन्हें से "भूत" को, जिसे वह अपने दुष्ट व्यवहार का कारण समझने लगेगा, बाहर निकालने में सहायता देगा।

तत्पश्चात् वह कभी बुरे बालक को अपने भीतर प्रविष्ट न होने देगा, और किसी प्रकार की शठता कर सकने के पूर्व वह उसे अपने से बाहर निकाल देगा। अधिक न सही, तो कम से कम वह अपने आप और उस के भीतर उत्पन्न होने वाली बुराई के बीच अन्तर समझने योग्य तो अवश्य हो जायगा। इस प्रकार उस के आत्म समान की भी रक्षा हो जायगी और उस की इच्छा को भी तोड़ने की आवश्यकता न रहेगी।

जैसे वैद्य नाना प्रकार के औषधों के प्रयोग से एक ही

परिणाम प्राप्त कर लेता है, वैसे ही बुरे बालक को सुधारने के लिए रीति में यथोचित परिवर्तन कर लेना चाहिए। कई बार बुरे बालक को बच्चे में से उसी प्रकार बाहर खींच लेना ठीक होता है जिस प्रकार कि एक दन्त-वैद्य दाँत को निकाल लेता है। इस के लिए एक पेचकस ले कर जैसे बोतल का काक खोलते हैं, वैसा ही करना चाहिए। एक और अत्युत्तम विधि यह है कि मोचने का प्रयोग किया जाय। बालक से कहना चाहिए कि मुँह खोल कर दिखलाओ, क्योंकि बुरा बालक इस के भीतर उस स्थान पर बैठा हुआ है जहाँ से चीखें निकला करती हैं। मुँह खोलने से स्वभावतः ही चीखें बंद हो जायँगी।

अब तुम भीतर बैठे हुए रोने वाले छोटे दूसरे बालक के विषय में, जिसे कि मोचने से पकड़ना आवश्यक है, कुछ बातें बता सकते हो। बच्चे से कहो—"निचले हो कर बैठे रहो, हिलो मत। मैं उसे मोचने से पकड़ कर बाहर निकालता हूँ। फिर तुम हमारे वही अच्छे बालक बन जाओगे।" इस प्रकार के प्रयोगों का बहुत ही उत्तम फल होता है। बच्चा शीघ्र ही क्रोध, ईर्ष्या और द्वेषादि दुर्गुणों से मुक्त होने की आवश्यकता समझने लगता है।

किसी भी अवस्था में बालक पर करुणा प्रकट करना,

अथवा उस की पीड़ा में सहानुभूति प्रकाशित करना, चाहे उस की पीड़ा कैसी ही दारुण क्यों न हो, बुद्धिमत्ता से दूर जान पड़ता है। दया दिखलाने से बच्चा असन्तुष्ट हो जाता है, चोट से न भी रोना हो तो भी रो पड़ता है।

चिन्ता मत प्रकट करो, क्योंकि इस से बच्चा चिन्तातुर हो जाता है। उस के बुरे स्वभावों के विषय में चिन्तित मत रहो, क्योंकि इस से वह स्वयं दुःखित हो जायगा और तुम उस के चरित्र को दुर्बल कर दोगे।

यदि शान्त समय में बच्चे के सामने अतीत बातों की समालोचना की जाय, तो उपर्युक्त साधनों का प्रभाव और भी बढ़ सकता है। माता-पिता को चाहिए कि बच्चे के घनिष्ठ मित्र और सलाहकार बनें। उन्हें चाहिए कि बच्चे को एकान्त में बतावें कि उस की अमुक दुष्टता के विषय में उनकी ऐसी सम्मति है, दूसरे लोग उसे ऐसा समझते हैं, और उस का ऐसा फल होगा। उस से पूछो कि यदि इस प्रकार के व्यवहार दूसरे करें तो वह उसे कैसा पसंद करेगा? उसे बता दो कि इस दोष को इस प्रकार दूर करना चाहिए और भविष्य में उस से बचने का अमुक उपाय है। उस समय बच्चे को धमकाना बिलकुल नहीं चाहिए, क्योंकि इस से बालक का शान्त मन क्षुब्ध हो जायगा। इस

शिक्षा के परिणाम को यदि बच्चे के चित्त पट पर एक क्षण के लिए नहीं, वरन् आयु भर के लिए अंकित कर देना अभीष्ट हो तो उसे आत्म-विचार तथा शान्त आत्म-समीक्षा की शिक्षा होनी चाहिए।

चौदह नैतिक स्वभाव

पहले काल में नैतिक स्वभावों का प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। इस अवस्था में इन स्वभावों की संख्या बहुत थोड़ी है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) बच्चे के रूप, उस के वस्त्रों अथवा उस की वस्तुओं की अनुचित प्रशंसा कर के उसे अभिमानी नहीं बनाना चाहिए।

(२) सम्पत्ति प्रायः सब की साझे की और सब के उपयोग के लिए रखनी चाहिए। वह किसी की निज की न समझी जाय। 'यह मेरी है' यह वाक्य कहने के लिए बहुत कम अवसर हो। इस के स्थान में "यह उस की है" 'यह हमारी है', का अवसर अधिक होना चाहिए। साथ ही यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि निज की सम्पत्ति के भी अनेक बहुमूल्य रूप हैं, इसलिए इसे बिलकुल ही दबा नहीं देना चाहिए।

(३) बच्चा प्रसन्नता-पूर्वक दूसरों के साथ हिस्सेदार बने।

(४) उस में आदर और शील होना चाहिए "कृपा करके",

और "आप को धन्यवाद", इत्यादि बातें कहना उस के लिए स्वाभाविक हो।

(५) दूसरे वर्ष के पश्चात् वह अनेक छोटी छोटी बातों में सहायक बन जाय और अपने बहुत से आवश्यक कार्यों को आप ही करे।

(६) वह छोटे छोटे दु:खों को वीरता से सहन करे और उन्हें तुच्छ समझे। जब बच्चा कुरसी से गिर पड़े तो उस कुरसी को पीटना नहीं चाहिए। जिस स्थान पर चोट लगी हो उसे चूमना नहीं चाहिए, प्रत्युत उस कुरसी को चूमना चाहिए जिस से चोट लगी है। प्रसन्नता और धैर्य से 'कोई बात नहीं' कहने से बढ़ कर पीड़ा को उचित एवं स्थायी रूप से शान्त करने वाली दूसरी कोई चीज़ नहीं। यों ही मन्त्र पढ़ कर एक बार वायु में फूंक मार देने से भी छोटे बच्चों पर बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ता है। परन्तु यदि प्रत्येक बात में इसी प्रकार फूंकें मारने लगोगे तो उस मंत्र का सब प्रभाव नष्ट हो जायगा। यदि वायु के स्थान में चोट खाए हुए स्थान पर फूंक मारी जायगी तो इस से दुःख होगा। बच्चे में भीरता नहीं वरन् निर्भयता का संचार करना चाहिए।

(७) बालक उपस्थित जनों से प्रशंसा पाने के विचार से दूसरों को न पीटें। अनेक बालकों को थप्पड़ और लातें मारने

का स्वभाव हो जाता है। बच्चे को ऐसा करने का दुवारा अवसर न मिलना चाहिए।

(८) ऐसा उपाय करना चाहिए जिस से बालक की दृष्टि उदार, वाणी मधुर और वृत्ति दृढ़ हो।

(९) इस पहली अवस्था की समाप्ति के निकट बच्चे को बढ़ती हुई सावधानी के साथ, जहाँ तक एक छोटे से बालक से आशा की जा सकती है, सत्य, प्रेम और सत्याचरण करना चाहिए।

(१०) उचित यह है कि कोई छोटा पालतू जीव रख कर बच्चे को सद्गुणों का अभ्यास कराया जाय और इस संबंध में सौम्यता एवं विचारशीलता के गुणों को ज़ोरों से बढ़ाया जाय। यदि बिल्ली अथवा कुत्ता पाला हो तो यह मालूम करना बहुत सुगम हो जाता है कि वह अब थक गया है और खेलना नहीं चाहता। बिल्ली खेद-सूचक स्वर से म्याऊँ करने लगेगी, भाग जाने का यत्न करेगी, काटेगी अथवा अपनी पूँछ हिलावेगी। यदि कुत्ता होगा तो वह भौंकेगा, काटेगा, या दूर होने का यत्न करेगा। ये इस बात के स्पष्ट लक्षण हैं कि उस के साथ खेलना बंद कर देना चाहिए। गुड़िया, गुड़िया का घर, घर की वस्तुएँ और बर्तन सावधानता का अभ्यास कराने के लिए अच्छे हैं। सब से उत्तम रीति यह है कि बच्चा घर में सहायता

दे और बहन-भाइयों का हाथ बँटावे। घर में फूलों के पौधे लगा रखने चाहिए। उन की देख-भाल से भी बच्चों को भारी शिक्षा मिलती है। परन्तु याद रखिए कि सारे दिन काम ही काम करने और खेलने के लिए कुछ भी समय न देने से बालक उदास और मंद-बुद्धि हो जाता है।

(११) जो बात सर्वाङ्ग पूर्ण हो, केवल वही करने देनी चाहिए।

(१२) प्रत्येक बात सावधानी से, पूरे ध्यान से और बुद्धि-पूर्वक करनी चाहिए।

(१३) बालक को प्रफुल्ल और आनन्दित रहने और छोटे कष्टों को तुच्छ समझने की प्रेरणा करनी चाहिए, जिस से वह वीर बनना पसंद करे।

(१४) बच्चा अपने संसर्ग में आने वाले सभी प्राणियों के साथ व्यापक रूप से सत्य का व्यवहार करे।

स्वभावों के संबंध में, प्रायः संकट की कुछ अवस्थाओं में, विशेष कठिनाइयों का अनुभव होता है। पहले, जब बच्चा कोई दो वर्ष का होता है और वह तर्क करने लगता है। दूसरे, इस के दो तीन वर्ष बाद, जब उस की इच्छा तथा बोलने की शक्ति विकसित हो जाती है। तीसरे, कोई दस वर्ष की आयु में,

जब बच्चा अपनी समझ से काम करने में समर्थ होने लगता है। और चौथे, जब नव-यौवन की अवस्था से निकल कर वह पूर्ण पुरुष अथवा स्त्री बन जाता है। दूसरी और तीसरी अवस्थाओं की तरह पहली अवस्था में भी बच्चे को युक्तिसंगत स्वभाव डालने के लिए धैर्य एवं स्थिरता की आवश्यकता है, क्योंकि दोनों दशाओं में एक परिवर्तनशील काल को लाँघने का प्रश्न होता है। बच्चे की निर्बल इच्छा-शक्ति को अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा मात करने की अपेक्षा हमें उसे बुद्धि-द्वारा जीतना चाहिए।

उपर्युक्त चार प्रकार के स्वभाव यदि यथार्थ रीति से उत्पन्न किए जाएँ तो वे आप के बालक को नीरोग, सुखी, प्रयत्नशील, सरल कामनाओं वाला, अच्छे स्वभावों के एक अमूल्य भाण्डार का स्वामी और अपनी आयु के अनुसार नैतिक-दृष्टि से दृढ़-काय बना देंगे।

मानसिक विकास

इस प्रारम्भिक अवस्था में बालक के मानसिक विकास के लिए सीधे तौर पर सापेक्ष दृष्टि से बहुत थोड़ा यत्न किया जा सकता है। प्रायः प्रत्येक बात घर के वायु-मण्डल और व्यवसाय से प्राप्त होनी चाहिए। इस पर भी, इस काल के प्राय: मध्य भाग से बच्चों में उन चीज़ों को तनिक अधिक ध्यान से देखने की प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिए जिन में उन्हें दिल-चस्पी हो। उदाहरणार्थ—मेज़, पेन्सिल, कोट, फूल, या बिल्ली के प्रधान मनोरञ्जक अंग दिखला कर उस का उसे निश्चित एवं स्पष्ट ज्ञान करा देना चाहिए।

नकली चेष्टाओं—कल्पनात्मक अर्थात् झूठ-मूठ की वस्तुओं को खाने, धोने, पकड़ने और ढकेलने—से 'कल्पना-शक्ति' को बढ़ाने की बहुत गुंजाइश है।

नूतन घटनाओं को लगातार याद करते रहने से 'स्मरण शक्ति' उन्नत एवं प्रबल बनाई जा सकती है।

बच्चे के अपने आप से संबंध रखने वाले किसी सिद्धान्त को उस के सभी भाइयों, बहनों, चाचाओं और चाचियों तक फैलाने, अथवा एक चमचे या कुरसी की तुलना घर में उस

प्रकार की दूसरी चीज़ों के साथ करने के लिए कहकर, एक संकीर्ण सीमा के भीतर, बच्चे को 'सामान्यीकरण' या जाति-निर्देश भी सिखाया जा सकता है। सारांश यह कि इस काल में मन को सधाने के लिए जो कुछ हम करते हैं, उस से बड़ा लाभ यह है कि बच्चे के अगले कालों के लिए तैयारी हो जाती है।

वस्तुओं के नाम रखने का अभिप्राय

हमारी शिक्षा का उद्देश्य यही है कि बालक जब मनुष्य बन कर ससार क्षेत्र में प्रवेश करे, तब वह प्रकृति—जगत्—पर अधिकार रख सके। यह बात तभी हो सकती है जब बच्चों को वस्तुओं और घटनाओं का प्रकृत स्वरूप और धर्म भली भाँति समझा दिया जाय।

मनुष्य अपनी भाषा में ससार का चित्र खींच सकता और प्राकृतिक विकारों में भेद कर सकता है। यह केवल भाषा ही है जिस के द्वारा वह घटनाओं का सत्यज्ञान प्राप्त कर सकता है और उन की गति पहले से ही निश्चय कर सकता है।

एक सज्जन लिखते हैं कि एक दिन मैं अपने नन्हे से लड़के को कला भवन में यत्र की गति दिखला रहा था। बच्चा पहले पहल मशीन के शोर से डर गया और स्वभावतः ही घबराने लगा। परन्तु बच्चे के सामने उस शोर की नकल उतारने से इस प्रकार की प्रत्येक भयानक ध्वनि का डर उस से दूर किया जा सकता है। यंत्र के बेलन दो विचित्र शब्द उत्पन्न करते हैं—एक तीक्ष्ण, दूसरा मंद। जब बच्चा डरता तो

हम घूमते हुए वेलन के पास से पीछे हट आते, परन्तु मैं धमाके और खटखटाहट की बातें कर के, जो हम ने एक दूसरे के उपरान्त जल्दी-जल्दी होते सुने थे, बच्चे को उस ध्वनि का स्मरण कराता रहा। उस का चित्त स्थिर प्रतीत होने लगा और मशीन की घूँ घूँ का भयानक लगना बंद हो गया, क्योंकि बालक कुछ दिलचस्पी दिखाने और पीछे मुड़-मुड़ कर देखने लगा। तब मैं उसे फिर शनैः शनैः घूमते हुए यंत्र के पास ले गया। वहाँ वह खट-खट और घूँ घूँ के शब्दों से प्रकट होने वाले शोर का ध्यान करने लगा। शोर की नकल करते समय उन शब्दों को बार-बार कहने से बच्चा मशीन के निकट पहुँच कर भी न डरा, और शीघ्र ही फिरते हुए वेलनों का दृश्य उसे साधारण जान पड़ने लगा। अब वह भयभीत न था, परन्तु आश्चर्य से अवश्य देख रहा था।

ऐसा परीक्षण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो बच्चे को उठाए हुए है, वह जितना समीप और जितनी शीघ्रता से बच्चा स्वयं जाना चाहता हो, उस से अधिक न जाय। बच्चे अपनी अभिलाषाओं को सदैव स्पष्ट रीति से प्रकट कर दिया करते हैं।

किसी घटना का नाम रखना उस घटना पर अधिकार जमाने के लिए पहला पग है। उस क्रिया का चित्र अब एक चकित-स्तम्भित कर देने वाला इन्द्रियानुभव नहीं रह जाता,

प्रत्युत वह एक मानसिक व्यापार बन जाता है। इस का परिणाम यह होता है कि शब्द का चिह्न उस का बोध कराने लगता है। आग जलने की नकल ह-ह-ह-ह कह कर, घंटियों की टन-टन से, इंजन के धुआँ छोड़ने की फक-फक से पशुओं की भौं, भौं, म्याऊँ-म्याऊँ, म्हां-म्हां, इत्यादि से बड़ी उत्तम रीति से की जा सकती है।

बच्चों की भाषा का प्रयोग अनेक प्रकार से लाभदायक है, विशेषतः रात्रि-समय, जब कि बच्चा किसी कारण व्याकुल हो रहा हो और साधारण उपाय उसे शान्त करने में असमर्थ हों। प्रचलित लोरियाँ भी बहुत अच्छी हैं। दीर्घ स्वर, शान्त करने वाली ध्वनि वाले शब्द, जिन में उ, ओ, और विशेषतः ऊ की ध्वनि अधिक हो, निद्रा को सब से अधिक लाते हैं। बच्चे को लेकर उग्गूँ, ऊँ-ऊँ, ओ-ओ प्रभृत्ति शब्द निकालने से वह प्रायः सो जाता है। ऐसे अवसर पर धीमे स्वर में, जिस से प्रतीक्षा उत्पन्न हो, एक कहानी कहना चाहिए। इस कहानी में परिचित शब्दों की पुनरावृत्ति मात्र हो। इस से बच्चा चुप हो जायगा। अब इस गीत को क्रमशः अधिक सुरीली गीतियों में बदला जा सकता है—यथा "स्कूल का घंटा बजे टन टन", "पनचक्की चलती घुमर घुमर", अथवा, "लेला करता मैं-मैं मैं," इत्यादि।

जिन साधारण घटनाओं और प्राकृतिक विकारों से बच्चे

के भयभीत हो जाने की सम्भावना हो, उन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जब बिजली चमके और मेघों का घोर गर्जन हो तब माता-पिता को चाहिए कि बिना किसी प्रकार की घबराहट प्रकट किए, बच्चे को ले लें। उसे बिजली की छटा दिखा कर उस के अद्भुत सौन्दर्य की प्रशंसा करें और बच्चे के कानों को मेघ-नाद सुनने के लिए तैयार कर दें। यदि माता-पिता किञ्चित् मात्र भी भय के चिह्न प्रकट करेंगे तो उस से बच्चा जन्म भर के लिए डरपोक हो जायगा। ऐसी अवस्था में एक स्थान पर खड़े रहने की अपेक्षा इधर-उधर घूमते रहना अच्छा है। इस से बच्चे का ध्यान भयानक विचार से हट कर दूसरी ओर चला जाता है। स्मरण रहे कि बरसती हुई गोली में जो सेना निश्चेष्ट पड़ी रहती है, वह उस सेना की अपेक्षा जो आगे बढ़ रही हो अथवा किसी प्रकार के कार्य में मग्न हो, अधिक शीघ्रता से निरुत्साह एवं परास्त हो जाती है। ऊपर कहे उपायों पर ध्यान देने से बालक में धृति-उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिलती है।

तीसरा खण्ड

आज्ञानुवर्तिता की प्रधानता

आज्ञानुवर्तिता की प्रधानता—ढाई वर्ष की आयु से लेकर सात वर्ष की आयु तक

बच्चे का लगातार बढ़ते रहना

आप को यह समझना चाहिए कि "बालक में शीघ्रता से और निरन्तर परिवर्तन हो रहा है।" आप जानते हैं कि प्रौढ़ व्यक्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु ये परिवर्तन उतने गम्भीर और उतनी शीघ्रता से नहीं होते जितने कि बालक में होते हैं। इस लिए बालक के विषय में आप की यह धारणा होनी चाहिए कि उस का क्रमिक विकास हो रहा है। 'प्रत्येक बार कुछ सप्ताह के अनन्तर, बालक की परिवर्तित प्रकृति के अनुसार, आप के उस को सुधारने के उपाय भी बदलते रहने चाहिए, और प्रायः ऐसा होता है कि एक ही सप्ताह में बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है।" इस बात को भूल जाने से बच्चे के विकास में भारी बाधा पड़ने का डर रहता है, क्योंकि जिस बात को पिछले सप्ताह रोकना ठीक था, उस को इस सप्ताह भी रोकने से बच्चे का क्रमिक विकास न हो सकेगा। ऐसी अवस्था में आप के बच्चों को उन्नति करने के लिए प्रत्येक पग के लिए लड़ना पड़ेगा और आप उन्हें केवल तभी अनुमति देंगे जब आप को उन के रुकने की कोई आशा न रहेगी। इस लिए बुद्धिमता यही है

कि बच्चे की निरन्तर वृद्धि के साथ-साथ अपने-आप को भी उस के अनुकूल बनाते जाओ और किसी ऐसी विधि का प्रयोग न करो जिस में बच्चे के विकास पर ध्यान न रक्खा गया हो।

"जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं, उस में बालक एक छोटे परिमाण का मनुष्य" बन जाता है। वह बोलना सीखता है, वह स्वतन्त्रता-पूर्वक किसी प्रकार की विशेष रख वाली के बिना इधर-उधर फिरने की शक्ति प्राप्त करता है, और उस के मन का विकास अनेक दिशाओं में होता है।

दूसरे काल में बालक की सामर्थ्य

(क) "स्व[illegible]व से स्पष्ट वृद्धि बालक के बोलने की शक्ति का विकास है।" ढाई वर्ष की आयु में सामान्य बालक भाषा के केवल दो चार ही टूटे-फूटे वाक्य बोल सकता है। सात वर्ष की आयु में वह प्रत्येक साधारण बात-चीत को समझ और कर सकता है। कई असाधारण बालक इस आयु में खासी कविता कर लेते हैं।

(ख) "बालक शारीरिक दृष्टि से बढ़ा हुआ होता है।" वह चल सकता है, दौड़ सकता है और कई ऐसे खेल कर सकता है जिन में निपुणता की आवश्यकता होती है।

(ग) "बच्चे में इकट्ठे मिल कर और चतुराई के खेल खेलने का भाव स्पष्ट दिखाई देने लगता है।" उस के साथी होते हैं, और वह लोगों तथा वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी सम्मति बनाने लगता है।

(घ) "बच्चा क्या, कैसे, और क्यों पूछने लगता है।"

(ङ) "वह जन्तुओं और चित्रों आदि को देख कर प्रसन्न होता है।"

(च) "वह कामों को करने का यत्न करता है।" उस के ये प्रयत्न कभी-कभी मौलिक होते हैं, पर बहुधा वे मौलिक नहीं होते। मौलिक न होने का कारण यह है कि जो कुछ दूसरे लोग करते हैं, उस की स्मृति एवं अनुभव काम करने की इच्छा करते समय बच्चे में उद्बोधन का काम करता है। कल्पना के उज्ज्वल होने के कारण वह अपनी स्मृति में संचित बातों को लेकर उन्हें बढ़ा लेता है।

(छ) "कल्पना"—विशेषतः दृष्टि विषयक कल्पना—"समुन्नत होती है, बहुधा शब्द और चेष्टाएँ भी स्पष्ट रीति से स्मरण रहती हैं।"

आज्ञापालन

बालक के जीवन के प्रथम वर्ष में किसी प्रकार का तर्क करना ठीक नहीं। इस काल में उस से केवल प्रार्थनाएँ—नरमी से की हुई प्रार्थनाएँ—ही की जा सकती हैं, यथा "चुप!..." "सावधान!" "ठहर जाओ!" इस अवस्था में बालक में अपने-आप और तुरन्त आज्ञापालन की प्रवृत्ति होती है। आज्ञानुवर्तिता का अर्थ इस से बढ़ कर और कुछ नहीं कि बालक के मन में किसी ऐसी बात का विचार कराया जाय जिस के साथ हम उसे सहमत कराना चाहते हैं। अच्छे माता पिता सदा इसी को आदर्श रखते हैं।

पहले बालक किसी प्रकार का किन्तु-परन्तु किए बिना आज्ञा पालन करता था। परन्तु अब स्वाभाविक जीवन में संक्षोभ उत्पन्न करने वाली परिवर्तनशील अवस्थाओं के कारण उच्छृङ्खल बुद्धि के और विविध प्रकार की चेष्टाओं के बढ़ने से, वह बात नष्ट होने लगती है। बालक अब केवल उन्हीं आदेशों और सूचनाओं को तत्काल और बिना प्रश्नोत्तर किए मानता है, जो एक विशेष अथवा ज़ोरदार रीति से की जाती हैं। इस लिए ज्यों ज्यों आप का बालक बड़ा होता जाता है, आज्ञापालन का प्रश्न भी

बदलता जाता है। पहले तो वह आप की आज्ञा पाते ही बिना सोचे समझे मशीन की तरह अपने-आप उस का पालन करने लगता है। फिर अरुचिकर आज्ञाओं के मनाने के लिए किसी प्रकार की सत्ता अथवा ज़ोर से ताकीद करने की आवश्यकता होती है। तब अन्त को वह अवस्था आती है जब कि आप का सुशिक्षित बालक आप के आदेशों और सूचनाओं पर निर्विघ्न ध्यान देने लगता है। स्मरण रहे कि बालक स्वभाव से वही आज्ञापालन करते हैं जहाँ उनके बढ़ते हुए व्यक्तित्व की यथार्थ माँगों को देखा और उन पर ध्यान दिया जाता है।

कभी-कभी बच्चों की इच्छा-शक्ति बड़ा उलटा मार्ग ग्रहण कर लेती है। उदाहरणार्थ, एक छः वर्ष की लड़की (क) जो कुछ उस के पिता ने किया था उस के विपरीत करती है, (ख) जो कुछ वह करता है उस में उसे रोकने का यत्न करती है, (ग) अपने पिता के स्थान में वही काम आप करने का हठ करती है, (घ) जिस बात के लिए पिता कहे वह उस के विपरीत कहती और करती है, (ङ) मैं इस काम को क्यों करूँ या क्यों न करूँ, इस का कारण और फिर उस का कारण, इसी प्रकार और आगे पूछती जाती है। ऐसी अवस्थाओं में माता-पिता को उस का बलात् विरोध और निषेध न करना चाहिए, क्योंकि इस से आज्ञा न मानने का भाव बढ़ कर दृढ़ हो जाता है। यहाँ उनका कर्तव्य यही है कि जहां तक हो सके हँसमुख

प्रकृति से उसे अनदेखा कर दें, उसे निःसार एवं निरर्थक समझें, कोलाहल किए बिना चुपचाप उस का विरोध करें। जब बच्चा देखेगा कि मेरी चेष्टाओं पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाता, तो वह अपने-आप उन्हें छोड़ देगा।

बालक में सत्यानुराग उत्पन्न करना

आपके बालकों को, बढ़ते हुए बल के साथ, जानबूझ कर और सोच समझ कर अपने कामों की कामना और बुरे स्वभावों से घृणा करनी चाहिए।

(क) बच्चों को इच्छा सम्बन्धी नियम का अधिक "जानबूझ कर" और "सोच-समझकर" सम्मान करना चाहिए।

(ख) जो कुछ वे अपने लिए तथा दूसरों के लिए कर सकते हैं; उसे करने की उन में "चाह" होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, उन्हें इस लिए साफ और सुथरा नहीं रहना चाहिए कि उन्हें साफ-सुथरा रहने का स्वभाव पड़ गया है, प्रत्युत उन्हें सोच-समझकर सफाई और सुथरेपन को "पसंद करने" के लिए उत्साहित करना चाहिए।

(ग) उन्हें साधारण पीड़ा और कष्ट को वीरतापूर्वक सहन करना चाहिए।

(घ) वे स्वादु भोजनों की "परवाह न करें" और स्वादु भोजनों को पसन्द न करें।

(ङ) उन में जल्दी सोने और सवेरे उठने की "अभिलाषा" होनी चाहिए।

(च) उन्हें फुर्तीलेपन और हँसमुख बनने में "प्रेम" हो।

(छ) और इस प्रकार वे अच्छे स्वभावों को "पसन्द" और उन के विपरीत स्वभावों को नापसन्द करें।

सत्य पर प्रेम करने के लिए सब से बड़ी बात अच्छे स्वभाव का पहले से विद्यमान होना है, क्योंकि बालक जिस बात से परिचित हों उस का वे शीघ्र ही संमान, और जो नई एवं अपरिचित हो उस से घृणा करने लगते हैं।

जब आप के बच्चे पले तो हों अव्यवस्था में और जान-बूझ कर अच्छा समझने लगें सुव्यवस्थित जीवन को, तब देखिए क्या परिणाम होता है। चाहे वे सुव्यवस्थित होने—अपने-आप को किसी नियम एवं क्रम में रखने—का यत्न करें, परन्तु यह काम इतना बड़ा जान पड़ेगा कि वे पुराने अव्यवस्थित स्वभावों की ओर झुक जायँगे; उन को निर्बल इच्छा शीघ्र ही निकम्मी हो जायगी; उन के विचार पुरानी अभ्यस्त प्रणाली पर चलने लगेंगे, और वे अपने सारे प्रयत्नों को भूल जायँगे। बच्चे में यथार्थ जीवन पर प्रेम उत्पन्न करने की सारी आशा सर्वथा इस पूर्वकल्पना पर निर्भर करती है कि अच्छा बनने की कामना के मार्ग में बुरे स्वभावों के समूह की रुकावट न हो। यह बात इस ओर आप के निरन्तर सावधान रहने, अपने बालकों के मन में कभी हड़बड़ी न घुसने देने पर भी निर्भर करती है।

कल्पना और सत्य-प्रियता

क्रिया-प्रेम अच्छी चीज है, परन्तु सत्य-प्रियता सब से अधिक आवश्यक है। जहाँ तक हो सके, पहली अवस्था में बच्चे के हृदय में सत्य का गौरव बैठा देना चाहिए। परन्तु इस बात का सदा ध्यान रहना चाहिए कि सत्यता की भावना का विकास चार-पाँच वर्ष की आयु के पहले कम ही होता है।

सत्यप्रियता को बढ़ाने के लिए पहली आवश्यक बात यह है कि बच्चे से उस का अपराध स्वीकार कराने के उपरान्त उसे कभी दण्ड न दिया जाय। कारण यह कि भय ही झूठ बोलने, अर्थात् जान-बूझ कर किसी तथ्य को बिगाड़ कर कहने और अनुचित लाभ उठाने, अथवा बुरे परिणामों से बचने के लिए धोखा देने का सब से बड़ा वरन् एक मात्र कारण होता है।

इस बात का जानना परम आवश्यक है कि अनेक बार बच्चा असत्य कह देता है किन्तु वह झूठ नहीं होता। बच्चों की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रबल होती है और वे सहज में घटनाओं को मन से गढ़ लेते हैं। एक छोटे बच्चे पर प्याला तोड़ देने का सन्देह हुआ। परन्तु उस ने इस से साफ इन्कार कर

दिया। साथ ही उस के छोटे भाई ने जो यह काम कर ही नहीं सकता था, अपने माता-पिता को विश्वास दिलाया कि प्याला मैं ने ही तोड़ा है। उस ने यह असत्य केवल इस लिए कह दिया कि उस ने अपने मन में कल्पना करली कि उस ने प्याले को इस प्रकार तोड़ डाला होगा। यह बात बड़ी मनोरञ्जक प्रतीत हुई। उस ने अपनी प्रबल कल्पना-शक्ति के द्वारा मन में प्याला टूटने के सम्बन्ध में प्रत्येक बात को विस्तार पूर्वक उत्पन्न कर लिया और बड़ी नम्रता से एक लम्बी कहानी कह सुनाई कि प्याला इस प्रकार टूटा था।

बहुत से बच्चों को उन के कल्पना के स्वप्न ऐसे ही ठीक प्रतीत होने लगते हैं जैसे कि वास्तविक घटनाओं की स्मृति। इस लिए बच्चे को सचाई का प्रेमी बनाने के जोश में हमें यों ही उस की निन्दा नहीं करने लग जाना चाहिए, वरन् पहले भली भाँति पता लगाना चाहिए कि वह सचमुच न केवल असत्य ही कह रहा है, वरन् अपने उत्तरदायित्व से बचने के विचार से उस ने वास्तव में एक झूठ गढ़ लिया है।

सत्य-प्रियता का आत्म-सम्मान के साथ घनिष्ठ संबंध प्रतिष्ठित कर देना अत्यावश्यक है। बच्चे के मन में यह बात भली भाँति बैठ जानी चाहिए कि मिथ्यावादी कहलाने से बढ़कर संसार में कोई अपमान नहीं।

शिकागो के डाक्टर पॉल केरस लिखते हैं कि कई वर्ष हुए, मैं ड्रस्डन के राजकीय सैनिक विद्यालय में विज्ञान का अध्यापक था। मैंने यह रीति रखी थी कि जब कभी कक्षा में किसी विद्यार्थी के बोलने से शोर होता, तब मैं केवल इतना ही पूछता कि कौन बोला है? निस्सन्देह पहली बार कुछ भी उत्तर न मिलता था। तब मैं समूची कक्षा पर घृणा प्रकट करते हुए झाड़ देता था कि इस कक्षा में एक ऐसा भीरु व्यक्ति है जो अपनी की हुई शठता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने के लिए खड़े होने का साहस नहीं कर सकता। मैं युक्ति से सिद्ध कर दिया करता था कि इस भीरुता के लिए सारी की सारी कक्षा ही उत्तरदायी है। जब तक इस व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखने के स्थान में उत्साहित किया जाता है, मेरे हृदय में कक्षा के लिए कुछ भी संमान न होगा। जब ऐसी घटना प्रथम बार घटी तब उपद्रव करने वाले के मन में भीरुता का दोष चुभा तो सही, परन्तु वह अपना अपराध स्वीकार करने के लिए उठा नहीं, किन्तु सारी कक्षा उस पर बहुत क्रुद्ध हो गई और खड़े होकर अपराध स्वीकार करने के लिए उसे विवश करने लगी। मैंने कहा, कक्षा का कर्तव्य है कि अपने सहपाठियों पर ऐसा प्रभाव डाले कि उन में से कोई भी अपने दायित्व से भागने और जो कर्म उस ने किया है, उस से इंकार करने का साहस न करे। जिस समाज में संदिग्ध व्यक्तियों को बुरा नहीं समझा जाता, उस से मनुष्य को

प्रतिक्षण बचते रहना आवश्यक है। इस लिए जिस कक्षा में कई छात्र ऐसे हैं जो सत्य को सब के सम्मुख मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने से इकार करते हैं, उसे अध्यापक अपने नवयुवक मित्र कहकर समानित नहीं कर सकता, परन्तु उन्हें नीच समझ कर वह उन से ऐसा व्यवहार करेगा जैसा कि कारागार के उन बंदियों से किया जाता है जिन पर कि अनिष्ट करने का संदेह सदा ही बना रहता है। मेरे ऊपर के कथन का परिणाम यह हुआ कि एक लड़का अपराधी को प्रकट करने के लिए खड़ा हो गया। परन्तु म ने धिक्कार फटकार सुनने से इकार कर दिया और इस प्रकार दूसरे की शिकायत करने की रीति को तत्काल प्रबल शब्दों में निन्दनीय ठहराया। मैंने कहा, मुझे इस बात के जानने की परवाह नहीं कि उपद्रव किस ने किया है। परन्तु मुझे आशा थी कि अपराधी को कम से कम अपने आत्म समान का इतना ध्यान अवश्य होगा कि वह सत्य को प्रकट करके—किसी और अभिप्राय से नहीं तो अपने दूसरे निरपराध साथियों पर से संदेह दूर करने के लिए ही सही। मेरे भाषण समाप्त कर चुकने पर अपराधी एकान्त में मेरे पास आया और अपने आप पर धिक्कार-फटकार करने लगा। परन्तु अब भी मने उस के अपराध-स्वीकार पर कान देने से इकार कर दिया और कहा कि तुम्हारे लिए सब से उत्तम बात यह है कि सारी कक्षा के सामने खड़े हो कर अपना अपराध मानो। जो बात तुमने सब के सामने की है, उस का

स्वीकार भी सारी कक्षा के सामने ही करना चाहिए। फलतः दूसरे ही दिन, मेरे कुछ कहे बिना ही, अपराधी स्वयं कक्षा में उठ खड़ा हुआ, और थोड़े से स्पष्ट शब्दों में उस ने यथोचित रीति से अपने अपराध को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार की घटना प्रत्येक नवीन कक्षा में केवल एक ही वार हुआ करती थी। दूसरी वार ऐसा कभी होने न पाता था। कक्षा नियम को समझ लेती थी और जब कोई असाधारण वात होती, अथवा जब कोई ऐसा कोलाहल मचता जिस का कि पता चलाना कठिन होता, तब केवल इतना ही प्रश्न करना कि ऐसा किस ने किया है, पर्याप्त होता था और अपराधी स्वयमेव चट-पट उठ खड़ा होता था। इस में सन्देह नहीं कि उसे मालूम रहता था कि मुझे दण्ड नहीं मिलेगा। सच पूछो तो अब दण्ड की कोई आवश्यकता भी न रह जाती थी। कारण यह कि यदि कोई परिहास की वात होती भी थी तो अपराध के स्वीकार के साथ ही उस का अन्त भी हो जाता था, क्योंकि अब उस की पुनरावृत्ति असम्भव हो जाती थी।

वही महाशय फिर लिखते हैं कि जिन दिनों मैं स्कूल में पढ़ा करता था, उन दिनों फौजदारी मुकदमों की तहकीकात करना हमारे कई अध्यापकों की मनभाती क्रीड़ा थी। मुझे स्मरण है कि साक्षियों की परीक्षा में हमारे बहुत से पाठ मारे

जाते थे। मुख्याध्यापक न्यायाधीश बनता था और प्रत्येक लड़का उसे धोखा देना अपना कर्तव्य समझता था।

सचाई तक पहुँचना सर्वथा असम्भव होता था, क्योंकि हमारी सारी कक्षा के हृदय में यह बात बैठी हुई थी कि अध्यापक को धोखा देना ही उचित कर्म है। जो कोई अपने अपराध को स्वीकार करते समय अथवा दूसरों की शिकायत करते समय, स्पष्ट रीति से सच कह देता था उसे अत्यन्त नीच समझा जाता था, क्योंकि वह आत्म-सम्मान का परित्याग कर के, हमारे सब के सामान्य अत्याचारियों के सामने सिर नवाता था।

सैनिक विद्यालय में अध्यापक का काम करते समय मुझे इस प्रकार की तहकीकात की कभी जरूरत नहीं हुई; और न मुझे कोई कारण मालूम होता कि लड़के के कथन पर क्यों विश्वास न किया जाय। कोई कारण नहीं कि संसार भर के सभी विद्यालयों और घरों में इसी रीति का उपयोग न किया जाय।

सांसारिक दूरदर्शिता

यद्यपि सत्य प्रियता बच्चे की मानसिक उन्नति की नींव का एक आवश्यक अंग होना चाहिए, परन्तु इस का तात्पर्य यह कभी न होना चाहिए कि चातुर्य को सदा भुला कर केवल सत्य की महिमा पर ही बल दिया जाय। साधारण दूरदर्शिता हमें सिखलाती है कि सत्य को उचित समय पर और उचित रीति से प्रकट करना चाहिए। सत्यप्रिय और मुँहफट होना एक ही बात नहीं। हम से यह आशा नहीं की जाती कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने सत्य, सारा का सारा और ज्यों का त्यों, कह दें। जहाँ सत्य कहना हमारा कर्तव्य हो, वहीं हमें, अन्य सब विचारों को एक ओर रख कर, सत्य कहना चाहिए।

जो वैद्य बिना विचारे यह कह कर कि 'तुम्हारा रोग प्राण घातक है' रोगी को कॅपा देता है वह अपने रोगी की मृत्यु शीघ्र लाने के कारण घोर अपराध करता है। उसे भली भाँति ध्यान रखना चाहिए और अवसर को देख कर उचित रीति से सत्य को प्रकट करना चाहिए। उचित रीति से चुप रहने का नाम भूठ नहीं, और न मुह फट होना सत्यप्रियता है। हमें अपने शब्दों के परिणाम को सोचना चाहिए, और ऐसे

वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए जिन का आशय वही निकले जो हमारा वास्तविक अभिप्राय है। हमें सोच-विचार कर सत्य को प्रकट करना चाहिए।

सब से आवश्यक बात यह है कि हम अपने-आप के साथ सत्य बोलें। सायंकाल की ईश्वर-प्रार्थना बड़ी अच्छी चीज़ है, क्योंकि इस में दिन भर के कामों पर विचार और अन्तःकरण की ओर से उन का विवेचन हो जाता है। जब बच्चा कोई अनिष्ट करे तब उसे रात्रि के समय उस पर शान्ति-पूर्वक विचार करने दो, और उसे भली-भाँति समझा दो कि अपने कार्यों की जितनी कड़ी समालोचना वह करेगा, जीवन में उसे उतनी ही कृतकार्यता होने की सम्भावना है। जीवन में बहुत सी विफलताएँ हमारे अभिमान के कारण ही होती हैं, क्योंकि वह हमें अपने दोषों को देखने से रोक देता है। हमारा स्वयं सच्चा होना हमारे प्रति दूसरों के सच्चा होने की आधारशिला बनना चाहिए।

हितोपदेश और पंचतंत्र की कहानियों से बालकों को दूरदर्शिता सिखाने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

—

व्यवस्था या करीना

इस रीति से पले हुए बच्चे, अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक बड़ी सीमा तक, अपने आवश्यक कार्यों को आप ही कर सकेंगे। उन्हें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि अमुक वस्तु कहाँ रखनी चाहिए, और अमुक आवश्यक वस्तु हमें कहाँ मिलेगी। उन्हें अपनी पुस्तकें, खिलौने और अन्य वस्तुएँ निर्दिष्ट एवं उचित स्थानों में रखनी चाहिएँ, और उन का उपयोग कर चुकने के बाद उन्हें फिर वहीं रख देना चाहिए। उन का भ्रमण करना, बात-चीत करना, वस्त्र पहनना, खाना, उत्तर देना, पूछना, खेलना, काम और व्यायाम सभी यथोचित रीति से होने चाहिएँ। ये सब क्रियाएँ, जहाँ तक इन का करना बच्चों के लिए संभव है, "स्वभावतः जान बूझ कर, सुचारु रूप से, संकल्प के साथ, और औचित्य-बुद्धि के अनुसार" की जानी चाहिएँ। मैला कुचैलापन बच्चों के लिए ऐसा ही हानिकारक है जैसा कि घर के लिए चूहे। इस से उत्तम स्वभावों को हानि पहुँचने का डर रहता है। आप को यह भी देखते रहना चाहिए कि किसी प्रकार की कठोरता अथवा रुखापन बालकों में उत्पन्न होने न पावे। कुरसी, मेज़, बर्तन, चटाई इत्यादि सब वस्तुओं के साथ विवेक-पूर्ण व्यवहार

होना चाहिए; पर इस का अर्थ यह नहीं कि उन्हें डरते-डरते हाथ लगाया जाय।

यथार्थ आचरण, जहाँ प्रकृति हँसमुख हो, एक बहुत सरल बात है। जब आप के बालक प्रत्येक वस्तु के साथ उचित रीति से व्यवहार करेंगे, तब वे दूसरे बालकों के प्रति और भी अधिक शीघ्रता से दया और न्याय का व्यवहार करने लगेंगे।

साधारण आचरण

पहली अवस्था स्वभाव की है और दूसरी स्वभाव तथा आज्ञा-पालन की। अतएव पहली अवस्था के लिए बनाया हुआ साधरण कार्य-क्रम दूसरी पर भी लागू होगा।

'(क) आप को "सुव्यवस्थिति" को उत्साहित करना चाहिए—यथा, सफ़ाई, बोलने, खाने, वस्त्र पहनने की यथोचित रीतियाँ, सुथरापन, वस्तुओं को उन के उचित स्थानों में रखना, खेलों को नियमित रूप से खेलना, वचन का पालन करना, स्थिरता, यथार्थता, और इसी प्रकार के अन्य गुण।

(ख) आप के बच्चे "सादा जीवन" का सामना करें—यथा, अनावश्यक या फालतू वस्तुओं और अलङ्कारों से उदासीनता, फिज़ूल खर्ची की अपेक्षा हँसमुख तथा सदा प्रसन्न रहने वाली तबियत में सुख मानना, और सब कार्यों में
देने में आनन्द समझना।

(घ) सभी जीव-धारियों के प्रति हार्दिक और सोच-समझ कर सहानुभूति प्रकट करने से अन्य शुद्ध नैतिक गुणों को और भी बढ़ाना चाहिए।

आज्ञापालन का भाव नष्ट हो जाने से अनेक बच्चों में स्वभावों के टूट जाने की संभावना हो जाती है, और नवीन स्वभावों का बनना एक भयंकर काम हो जाता है। दोनों अवस्थाओं में आपको सदा स्मरण रखना चाहिए कि "कोई स्वभाव न एक दम बन सकता है और न दूर ही हो सकता है।" यदि आप बालक को किसी स्वभाव के विषय में कोई बात इस प्रकार बतावेंगे मानो आप उसे कोई गुप्त बात बता रहे हैं, उस के कान में काना फूसी कर के दूसरों को इस प्रकार बतावेंगे कि बच्चा भी उसे सुन ले; गुड़िया से कहेंगे या उस से पूछेंगे; बच्चे से पूछेंगे कि गुड़िया क्या करेगी, क्या कहेगी या उसे किस बात का स्वप्न होगा, इत्यादि, तो वह उसे बहुत कम भूलेगा। वह किसी बात को उचित समय पर याद करने के लिए बड़ा उत्सुक रहेगा।

काम

इस दूसरे काल में बच्चों को काम में लगाए रखने के लिए पूरा-पूरा और सोच-समझ कर प्रबन्ध होना चाहिए। स्वस्थ बालक कभी निचला नहीं बैठ सकता, और निकम्मा होने के कारण जब वह इधर-उधर कुछ उपद्रव करने लगता है, तब अनेक अज्ञानी माता-पिता उसे डाट-डपट करने लगते हैं। यह उनकी भारी भूल है। बच्चों के उपद्रव को रोकने का एक मात्र उत्तम उपाय यही है कि उन्हें किसी न किसी काम में लगाये रखा जाय।

कपड़े पहनने और उतारने, स्नान करने और खाने, घूमने और कभी-कभी चंचलता करने, और सोने में स्वभावतः ही बहुतसा समय लग जाता है। परन्तु इन कामों से बचने वाले समय पर ही—जो कि जितने अधिक सधे हुए आप के बालक होंगे, उतना ही अधिक लम्बा होगा—इस प्रकरण में विशेष ध्यान देने का प्रयोजन है।

बालक जब घर पर हों तब उन के बैठने तथा खेलने के लिए उचित कमरे होने चाहिएँ, और उन में वस्तुएँ ऐसे ढंग से रखी हुई होनी चाहिएँ कि बालकों को उन्हें तोड़ने या कोई

अनिष्ट करने पर विवश न होना पड़े। यदि बच्चों के लिए कोई अलग या खाली कमरा न मिल सकता हो, तो यथा सम्भव किसी बड़े कमरे का मध्य भाग खाली कर देना चाहिए और वहाँ टूट जाने वाली बहुत थोड़ी वस्तुएँ पड़ी रहने देनी चाहिए। विशेषतः यह बात उस समय बहुत आवश्यक है जब कि मौसिम खराब होने के—वर्षा या आँधी के—कारण बच्चों को कई घंटों तक बराबर घर में ही रहना हो।

बच्चों के लिए विविध प्रकार के और किसी कदर नियमित कामों का एक क्रम तैयार करना चाहिए।

(क) इन कामों में से एक तो खेल हैं, जिन में, घर के भीतर और बाहर, सब बालक भाग ले सकते हैं।

(ख) दूसरे, शारीरिक व्यायाम और नाचना-कूदना आदि।

(ग) प्रति दिन कुछ समय गीत गाने और बाजा बजाने में लगाना चाहिए।

(घ) मिट्टी और कागज के खिलौने बनाना हितकर है।

(ङ) पहेलियाँ बुझाना और सरल गणित मनोरञ्जक होता है।

(च) मनके पिरोना या माला गूँथना।

(छ) सादी गुड़िया, लकड़ी की छोटी सी चरखी, और अन्य सादा खिलौनों से बच्चों को सदा प्रसन्नता होती है। पेचीले खिलौने केवल बड़े बच्चा को ही अच्छे लगते हैं।

(ज) वाटिका में साफ रेत का एक ढेर या घर में रेत का भरा हुआ बिना ढक्कन का एक बहुत बड़ा सदूक बच्चों को बड़ा आनन्द देता है। यदि निकट ही कहीं साफ रेत का कोई नाला हो तो और भी अच्छा है।

(झ) सामाजिक खेलों पर—स्कूल में पढने वाले बच्चों का स्वॉग भरना, डाकिया, नौकर, इजन चलाने वाला, माली, पुलिस का सिपाही, डाक्टर, धाय, मेजिस्ट्रेट, और कारीगर इत्यादि बनकर खेलने पर—विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ञ) दर्शक बन कर खेलने में बड़े लाभ हैं। इस लिए उसे उत्साहित करना चाहिए।

(ट) कहानी सुनाना और रामायण तथा महाभारत आदि की प्राचीन कथाएँ पढना बहुत आवश्यक है।

विशेष रूप से ज्ञानप्रद कामों की भी कमी न होनी चाहिए—

(क) एशिया और भारत के मानचित्र दीवार के साथ बहुत नीचे लटके रहने चाहिए। इन से भूगोल आदि का ज्ञान प्राप्त

होगा। जीवविद्या की पुस्तकें, जिन में रंगीन चित्र हों; पशुओं, पक्षियों और पेड़ों के विषय में कुछ वर्णन हो; नर-कङ्काल और मनुष्य-देह के विषय में शरीर-शास्त्र-संबंधी चित्र; और पृथिवी के गर्भ के विषय में भूगर्भविद्या-सबंधी चित्र, काले मोम जामे (आयल क्लाथ) का एक टुकड़ा मान चित्र की तरह लटकाया हुआ और उस के साथ खड़िया के टुकड़े रखे हुए; पेन्सिल और कागज़ भी जो कि हस्तलेख और चित्रकला के लिए आवश्यक हैं।

(ख) बच्चों के पास उपयोग के लिए सूर्यकान्त (लेन्ज़ या आतिशी शीशा), एक सादा सूक्ष्म दर्शक यंत्र (माइक्रास्कोप), एक दूरदर्शक यन्त्र (टेलीस्कोप), एक चुम्बक, पृथ्वी का एक गोला (ग्लोब), और सौर जगत् का एक चित्र होना चाहिए।

(ग) जहाँ संभव हो, वर्ष में एक बार चिड़ियाघर, अजायबघर, चित्रशाला और नगर या ग्राम देखने के लिए जाना चाहिए।

(घ) कारखानों, जो स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले न हों, व्यापार तथा काम-काज के स्थानों, विशेषतः ऐसे स्थानों को दिखलाने का प्रबंध करना चाहिए जहाँ सामान्य वस्तुएँ बनती हों—जैसे कि बूट, कपड़े, पुस्तकें, समाचार-पत्र, बर्फ इत्यादि। बड़े बच्चों को प्रयोग-शालाएँ (लेबोरेटरी) भी देखनी चाहिए।

(ङ) पाँच वर्ष की आयु से, पर्यवेक्षण और तुलना करने के

अतिरिक्त, सीना, सरल पढ़ना लिखना, गणित, चित्रकारी (पेंटिंङ्ग), आलेख्य (ड्राइङ्ग) और संगीत यथाविधि सिखलाए जाने चाहिएँ। नियत कामों से बड़ा लाभ होता है। इन से आप के बच्चे प्रशान्त और प्रसन्न रहते हैं। वे उन के जीवनों को सुव्यवस्थित बना देते हैं। वे चंचलता, ग्लानि और बदमिज़ाजी को रोकते हैं। वे स्कूली पाठों और व्यवसाय के लिए मार्ग तैयार करते हैं। उन से सुखदायक परिवर्तन होता रहता है और वे स्थिर रूप से बुद्धि को बढ़ाते हैं।

आप के बच्चों के लिए सुव्यवस्थित खेल ऐसे ही आवश्यक और लाभदायक सिद्ध होंगे जैसा कि सुव्यवस्थित कार्य प्रौढ़ लोगों के लिए होता है। जिस प्रकार संकल्प, मन और शरीर से मनुष्य के लिए नियम और उत्साह के साथ काम में लगन का प्रयोजन है, वैसे ही आप के बच्चों के लिए भी है।

परन्तु इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जब बच्चे थक जाएँ तब उन से बरजोरी काम न कराया जाय। ऐसे अवसर पर उन्हें किसी कमरे में अपने आप खेलने या विश्राम करने देना चाहिए, अथवा कम से कम उन्हें खेलों में भाग लेने से बचाना चाहिए।

कामों के विषय में बच्चों को इस बात के लिए उत्साहित करना चाहिए कि वे स्वतंत्र रहें और अनुकरण करने के साथ साथ आप भी दूसरों को पीछे लगावें।

सहकारिता

स्वतः सहकारिता को उत्साहित करके बालकों में एक उच्च नैतिक आदर्श प्रतिष्ठित करने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए।

(क) आरम्भ से ही आपके बच्चे एक दूसरे को सहन करना सीखें।

(ख) एक समय में दो वरन् तीन बच्चों को इकट्ठा गोद में बैठा लिया जाय।

(ग) आप को बहुधा एक से अधिक बालकों के साथ खेलना चाहिए।

(घ) कुछ कहना हो अथवा देना हो, तो एक से अधिक बालकों को कहो या दो।

(ङ) उन्हें कहो कि बार बार अपनी बारियाँ लें।

(च) सब के साथ घूमने जाओ और खेलो।

(छ) दो अथवा अधिक बालकों से इकट्ठा खेलने अथवा कोई एक काम करने को कहो।

(ज) उन से तुम अपनी या दूसरों की सहायता कराओ।

(झ) उन से एक दूसरे की सहायता तथा सेवा कराओ, इत्यादि।

इस प्रकार प्रत्येक संभव अवसर से काम लेने से बालकों में सहकारिता का भाव धीरे-धीरे दृढ़ हो जायगा।

दृष्टान्त और उपदेश

बालकों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। आप ने कदाचित् न देखा हो, परन्तु इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि बालक न केवल आप की क्रियाओं का ही, वरन् आप की वृत्तियों और भावों का भी अनुकरण करते हैं। यदि आप (ढाई वर्ष की आयु के ऊपर के) छोटे-छोटे बच्चों, को ध्यान पूर्वक देखेंगे, तो आप को मालूम हो जायगा कि जिस प्रकार वे हमारे शान्त, क्रुद्ध, भयभीत अथवा स्निग्ध होने के ढंगों को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार वे हमारे दुर्बल, हठीले अथवा दृढ़ संकल्प एवं विचार का भी अनुकरण करते हैं। इस लिए यह परम आवश्यक है कि "आप के बोलने का ढंग, आप के शब्द, आप की भाव-भङ्गी, आप का स्वरूप, आप के पग, आप की स्थिति और आप की गति विधि यथा सम्भव पूर्णरूप से निर्दोष हो।"

आप के मानसिक तथा दूसरे उत्तम स्वभाव इस में और भी सहायता देंगे। पर्यवेक्षण, शुद्ध रीति से ध्यान-पूर्वक देखने, सच्ची बात को शीघ्रता से मान जाने में रुचि दिखाओ। अपने विचारों में विवेक से काम लो; 'मुझे मालूम है', 'यह बिलकुल झूठ है', 'सदा', 'कभी नहीं', इत्यादि कहने की

अपेक्षा, आवश्यकतानुसार, "कदाचित्" 'मैं समझता हूँ', 'कभी कभी', 'अनेक बार', 'बहुत बार', 'प्राय', 'सदैव', 'अच्छे गुणों से सर्वथा शून्य नहीं', 'मेरी भूल है', इत्यादि शब्दों का बार-बार व्यवहार करो। बहुत थोड़े से शब्दों से ही काम न चलाओ। अनेक लोगों का स्वभाव होता है कि वे प्रत्येक चीज को 'फिजूल', प्रत्येक अरुचिकर वस्तु को "गन्दी", प्रत्येक नफीस चीज को 'मनोहर', प्रत्येक गरम चीज को 'आग सी गरम' कह दिया करते हैं। प्रत्येक वस्तु को उस की जाति और प्रकार के अनुसार अलग अलग कर के दिखाओ। घोड़ा और गधा सब एक ही जाति या नाम में न घुसेड़ दो। सूर्यास्त के दृश्य, पुष्पों, पत्तियों, किसी भूमि या प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य और प्रत्येक सुन्दर वस्तु की प्रशंसा करो। उत्साही, फुरतीले, सकोच न करने वाले, शीघ्रता से हाथ बटाने और सहयोग करने वाले, सादा जीवन व्यतीत करने वाले, अपने भीतर आश्चर्य एवं विस्मय के भाव को जीवित रखने वाले, अपनी कल्पना शक्ति को सधाने, किसी महापुरुष अथवा पुस्तक में दिलचस्पी लेने, और दूसरे लोगों तथा उन के बच्चों को इन सब बातों में सहायता देने वाले बनो। फिर तुम्हारे बच्चों को सत्य, विवेक, सावधानतापूर्वक जाति निर्देश अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं में उन के गुणों और धर्मों के अनुसार भेद करने, सुन्दर वस्तुओं और अन्य उल्लिखित गुणों का समान करने से कोई चीज न रोक सकेगी।

परन्तु आप को सदा यह न समझ लेना चाहिए कि बालक प्रत्येक बात का अनुकरण आप से आप कर लेगा। बच्चे को संस्कारों द्वारा द्विजन्मा बनाने की इस क्रिया को आप कभी-कभी संकेत देकर, उस के मनोयोग को जगा कर और मार्ग दिखा कर सादा ढंग और सरल भाषा में आडम्बर हीन रीति से अपने विचारों को उस तक पहुँचा कर, और अवसर मिलने पर लंबे संलाप और वाद-प्रतिवाद द्वारा सहायता दे सकते हैं। परन्तु आप को किसी एक बात पर विशेष बल देना अथवा अपने बालकों की आयु को भूल जाना नहीं चाहिए।

जिस प्रकार दृष्टान्त के बिना बच्चे किसी नियम को नहीं समझ सकते और सत्याचरण के स्थान में उन के कुटिल नीति से प्रेम करने की संभावना रहती है, वैसे ही अपने दृष्टान्त के भरोसे रहना बहुधा निष्फल होता है, क्योंकि हो सकता है कि आप के बच्चे यह न समझें कि हम से ऐसे आचरण की आशा की जाती है।

इस के अतिरिक्त जो स्वभाव जान-बूझ कर न ग्रहण किए गए हों, प्रतिकूल परिस्थिति में उन के बदल जाने का डर रहता है। केवल जान-बूझ कर ग्रहण किए हुए विचार ही बुरे प्रभावों और गुप्त हानिकारक संस्कारों का सामना कर सकते हैं। परिचित और अपरिचित दृष्टान्त, उपदेश और

इस पर दुःख से देखा गया कि उस नन्हें बालक ने भी ठीक उसी तरह और बड़ी सुगमता से अपनी दादी के सकोप मुख-मण्डल और उठाए हुए थप्पड़ की नकल की। मानव-चरित्र अवश्य ही परिस्थिति की उपज है। इसलिए बालक अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही नीच अथवा श्रेष्ठ होता है। फलतः दृष्टान्त और उपदेश दोनों की आवश्यकता है।

शिक्षा सब समान रूप से आवश्यक हैं। बच्चों से बहुत कुछ चाहने और आप बहुत थोड़ा करने से अपने काम को हलका बनाना, प्रत्येक बात अपरिचित उदाहरण और अनुकरण पर ही छोड़ देना, निष्फलता का आह्वान करना है।

उदाहरण का संबंध जब प्रत्यक्ष नैतिक शिक्षा के साथ हो, तभी इस का महत्त्व सब से अधिक होता है। परन्तु यह कहने का प्रयोजन नहीं कि उदाहरण बनावटी और दिखलावे का न हो। आप के और आप की स्त्री या पति के बीच, और आप दोनों और उन लोगों के बीच का -संबंध जिन के साथ आप मिलते हैं, वैसा ही होना चाहिए जैसा कि आप के और आप के बच्चों के बीच हो। नहीं तो आप के बालक आप के उपस्थित किए हुए अनेक उदाहरणों में से अपने अनुकरण के लिए आप ही कोई एक चुन लेंगे।

बच्चों में स्नेह और समवेदना की अपेक्षा और कोई चीज़ अधिक सामान्य नहीं। जब दूसरों को चोट लगती है तब वे रो पड़ते हैं। दूसरों को दण्ड मिलते देख वे बुरा मानते हैं, चाहे वे जानते हों कि इस बुरा मानने के लिए उन्हें आप दण्डित होने का डर है। और उन में प्रौढ़ों की भाँति ही कार्यों को अच्छा या बुरा ठहराने के सभी चिह्न दिखाई देते हैं।

'एक बार एक स्त्री ने हँसी में अपने पोते को धमकाया

इस पर दुःख से देखा गया कि उस नन्हें बालक ने भी ठीक उसी तरह और बड़ी सुगमता से अपनी दादी के सकोप मुख-मण्डल और उठाए हुए थप्पड़ की नकल की। मानव-चरित्र अवश्य ही परिस्थिति की उपज है। इसलिए बालक अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही नीच अथवा श्रेष्ठ होता है। फलतः दृष्टान्त और उपदेश दोनों की आवश्यकता है।

सिखाना और प्रयोग

दृष्टान्त और उपदेश के साथ शिक्षा—सिखाना—और प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

(क) यह स्पष्ट है कि बच्चों को स्नान करने, कपड़े पहनने और खाना खाने इत्यादि की रीति बड़ी सावधानता से "सिखानी" चाहिए। परन्तु यह बड़ी विचित्र बात है कि जितना अभाव इस शिक्षा का है, उतना और दूसरी का नहीं। माँ-बाप प्रायः साधारण शिक्षा, प्रतिवाद और स्पष्ट दिखाई देने वाले दोषों को ठीक कर देने पर सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु बच्चों को यह बताना कि स्नान कैसे करना चाहिए, कपड़े कैसे पहनने चाहिए, अथवा भोजन कैसे करना चाहिए, और फिर यह देखना कि बच्चे ने वस्तुतः ये कठिन पाठ सीख लिए हैं कि नहीं, उस से कहीं अधिक आवश्यक है। इस लिए "शिक्षा से हमारा अभिप्राय यह है कि बच्चे को उस के विविध स्वभाव उसी सावधानी, पूर्णता और धैर्य के साथ सिखाने चाहिएँ जिन से कि स्कूल में उसे ड्रिल अथवा गणित सिखाया जाता है।" केवल इस उपाय से ही आप का बालक, एक अनाड़ी बालक के सदृश, आधे काम पर दुगना समय लगाने से बचेगा। वास्तव में यदि बालक को जान-बूझ कर न सिखाया जाय,

वरन् उसे दृष्टान्त, उपदेश और अटकल पर ही निर्भर रहना पड़े तो वह, उदाहरणार्थ, कैसे जान सकता है कि हाथ मुँह धोने की यथार्थ विधि कौन सी है? इस लिए आप को, विशेषतः ढाई और सात वर्ष की आयु के बीच, जान-बूझ कर सिखाने का महत्त्व चट-पट विदित हो जायगा।

(ख) परन्तु यदि आप अपने बालकों को आधुनिक विज्ञान के अनुसार शिक्षा देना चाहते हैं तो आप को प्रयोगात्मक ढंग से चलना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रयोग का यह अभिप्राय है कि केवल दृष्टान्त, उपदेश और सिखलावे पर ही भरोसा करने के स्थान में आप का लड़का एक समय में पाँच छः बार अपने पायजामे को पहने और उतारे, जिस से आप को और उस को पूर्ण निश्चय हो जाय कि उसे पायजामा पहनना आता है। इस का लाभ स्पष्ट है। शिक्षा में आप एक बात एक समय में एक बार सिखा देते हैं और जो कुछ आपने सिखाया है, उसे दुहराने के लिए आप को सम्भवतः चौबीस घन्टे तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और उस समय तक आप का बालक बहुत कुछ भूल जाता है प्रयोग में आप अपने बालक से एक काम शायद आधी दर्जन बार कराते हैं, यहाँ तक कि वह उस विशेष क्रिया को भली भाँति सीख लेता है और वह उस की स्मृति पर अंकित हो जाती है। इस लिए स्वभावतः शिक्षा का यथार्थ रूप प्रयोग

द्वारा ही है। यह प्रयोग बाल-शिक्षा में वैसा ही महत्त्व रखता है जैसा कि रसायन शास्त्र में। इस रीति से बालक फुरती, सफाई, चातुर्य, सौम्यता, चालाकी, उपयोगिता, तितिक्षा, इत्यादि गुण सीख सकता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक प्रयोग में थक न जाय। इस का उपाय यही है कि प्रयोग को एक विस्मयोत्पादक और अद्भुत बात समझिए। फिर वह बालकों के लिए एक मनोरञ्जक खेल बन जायगा।

सोच समझ कर दी हुई शिक्षा और प्रयोग बड़े ही उपयोगी हैं। विशेषतः इस दूसरी अवस्था में इन का अटल रूप से उपयोग होना चाहिए।

"बलवान् बनो !" "मनुष्य बनो !"

"प्रत्येक व्यक्ति बलवान् बनना चाहता है।" इस कामना का उपयोग शिक्षा संबंधी कार्यों के लिए किया जा सकता है।

आप के बालकों के लिए बलवान् टाँगें, सुदृढ़ भुजाएँ, और मज़बूत फेफड़े रखना अच्छी बात है। परन्तु बल दूसरी रीतियों से भी प्रकट किया जा सकता है। जो मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है, वह स्पष्टतः दुर्बल है। इस के विपरीत जो सब समयों में अपने आप को वश में रख सकता है और किसी घटना से व्याकुल नहीं होता, वह स्पष्ट ही बलिष्ठ है। निकम्मा रहना दुर्बलता का लक्षण है, परिश्रमी होना बल का लक्षण है। पड़े-पड़े स्वप्न देखते रहना दुर्बलता की निशानी है; उत्साह-पूर्वक विचारना और कर्म करना ओज की निशानी है। केवल अपना ही ध्यान रखना और दूसरों से अपना काम निकालना निर्बलता का चिह्न है। सत्याचरण करना और समाज का मंगल बढ़ाना शक्ति का चिह्न है; अधर्म करना और अपने अशिक्षित मनोवेगों का दास बन जाना क्षीणता का चिह्न है।

'बलवान् बनो !' का अर्थ एक तीन वर्ष के बालक को भी वैसा ही स्पष्ट है जैसा कि एक तीस वर्ष के युवक को। इस

लिए आप को इस सचाई की ओर सदा ध्यान दिलाते रहना चाहिए कि शक्ति का प्रकाश आत्म-संयम और दूसरों की सहायता द्वारा और क्षीणता का आत्मासक्ति एवं स्वार्थनिष्ठा द्वारा होता है। लोग प्रायः कहा करते हैं कि प्राकृत मनुष्य बल को मानता है, सुशीलता को नहीं। आप अपने विकासशील बालकों को सिद्ध कर के दिखला सकते हैं कि यदि तुम बलवान् बनना चाहते हो, शक्ति-सम्पन्न बनना चाहते हो, और महान् व्यक्ति बनना चाहते हो, तो केवल सत्य का विचार ही तुम्हें मार्ग दिखला सकेगा।

"मनुष्य बनो!" यह एक दूसरी पुकार है, जो सब के दिल लगती है। इसे सुशील होने का उलट समझा जाता है। परन्तु अपने मन से पूछिये कि पशु और मनुष्य में क्या भेद है। पशु पूर्णरूप से अपने स्वाभाविक ज्ञान और इन्द्रिय-रचना के अधीन है। सभ्यता से बाहर पला हुआ मनुष्य पशु से भी बुरा होगा, क्योंकि उसे मार्ग दिखाने के लिए उस के पास कोई निश्चित सहज ज्ञान नहीं, और उस का शरीर उस ज्ञान के लिए बहुत ही कुडौल है। जितना ही कोई व्यक्ति पशु से उच्चतर है, जितना वह मनुष्य-जाति के आविष्कृत ज्ञान को सीखता है, उतना ही वह यथार्थ मनुष्य है। मनुष्य दूसरों के साथ काम करने और दूसरों से सीखने, अपनी बुद्धि से काम लेने और किसी आदर्श को सामने रख कर उस के

अनुसार कार्य करने के लिए बना है। इस के अभाव से वह पशुपन को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए "मनुष्य बनो!" का अर्थ है कि अपने अशिक्षित—न सधे हुए—मनोविकारों, रुचियों, आवेगों और भावनाओं का अनुसरण न करो। उतावली से काम न करो। अपने आप में ही लीन न रहो। अपने सामने एक जीवन-आदर्श और एक सार्वत्रिक आदर्श रक्खो; अपने समूचे अस्तित्व को इन आदर्शों के अधिकार में कर दो; तब तुम सच्चे मनुष्य बनोगे। जितना अधिक तुम आदर्शों के पीछे चलते हो उतना ही अधिक तुम मनुष्य हो; जितना कम तुम आदर्शों का अनुसरण करते हो उतना ही कम तुम मनुष्य हो। पशु मत बनो! अपने आप को समझो! मनुष्य बनो! वस्तुतः मनुष्य क्या है, इस विचार को स्पष्ट रूप से मन में रख कर तुम अपने बच्चों को "नन्हा मनुष्य बनो!" इन शब्दों के भाव का अनुभव करा सकते हो। तुम उन से प्रायः कह सकते हो कि मनुष्य सीखता है, काम करता है, सहायता करता है, अपने आप को वश में रखता है, इत्यादि। बच्चे, वयस्कों के समान, अपने वर्ग के सच्चे प्रतिनिधि बनना पसंद करते हैं।

ज्यों-ज्यों आप के बच्चे बड़े होते जायँ उन में इस बात की स्पष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जानी चाहिए कि बलवान् और वीर होना किसे कहते हैं, फिर समझो कि आप ने आधी लड़ाई जीत ली।

मन

पहला काल, ढाई वर्ष की आयु तक, अपेक्षाकृत गूँगेपन का काल है। इस काल में बच्चों की बुद्धि पर आप का प्रभाव मुख्यतः परोक्ष रूप से ही हो सकता है। परन्तु इस दूसरे काल की यह बात नहीं। इस में बड़े-बड़े अनुभवों को छोड़ कर शेष सब अनुभवों और जटिल तर्क-क्रियाओं का पूर्ण अभाव होता है।

(क) प्रथम काल की समाप्ति के पूर्व ही बालक वस्तुओं के विषय में असंख्य प्रश्न पूछना आरम्भ कर देता है। इस लिए "क्या-क्या?" वाली अवस्था बड़े महत्त्व की है। हम बच्चों की रुचि को निम्नलिखित उपायों द्वारा बढ़ा सकते हैं।

(१) वस्तुओं में आप भी वैसी ही दिलचस्पी लें जैसी कि बालक लेता है।

(२) जिस दिशा में बालक के अनुराग को चलाना चाहिए, उसे किसी सीमा तक निश्चित किया जाय।

(३) बालक किसी विषय को जितना विस्तारपूर्वक पूछे और उस में जितनी अधिक खोज करे, उतना ही अधिक आप भी उस में दिलचस्पी लें।

(४) असावधानता से पूछे हुए 'क्या?' का उत्तर "तब तुम्हीं बताओ" से दिया जाय।

इस दूसरे काल के अन्त तक बालक जितना कुछ सीख सकता है, उसकी तुलना प्रौढ़ मनुष्य के ज्ञान के साथ करने पर आश्चर्य होता है। इस काल में उसे प्रायः इन बातों का ज्ञान हो जाता है—

(१) कम से कम अस्सी फूल, घासें, झाड़ियाँ, वृक्ष, अनाज और तरकारियाँ।

(२) कोई एक कोड़ी पक्षी, और सब प्रकार के कोई पचास दूसरे पशु।

(३) सूर्य, चन्द्र, वर्षा, तुषार, हिम, पाला, कुहरा, इन्द्र-धनुष, वायु, चट्टान, और मिट्टी, सरदी और गरमी, ताप-मापक यंत्र (थर्मामीटर), और वायु-मापक यंत्र (बैरोमीटर), नक्षत्रों, मेघों, प्रतिबिम्बों के विषय में बहुत सी चुनी हुई बातें।

(४) शरीर के अनेक भाग।

(५) बहुत सा भूगोल।

(६) पढ़ना, लिखना और सरल गणित; और—

(७) दूसरी सामान्य वस्तुओं और चेष्टाओं की एक बड़ी संख्या।

बच्चों में विश्लेषण—बहुत से चीज़ों में से एक को अलग कर के दिखलाने—की शक्ति को बढ़ाने के लिए उन को प्रत्येक वस्तु में अधिक से अधिक संख्या में मनोरंजक बातें दिखलाओ, जैसा कि वृक्षों के तनों और शखाओं की विचित्रता, पत्तों की नाड़ियाँ और सजावट, फूलों के भाग और उन के सापेक्ष परिमाण और रङ्ग। नीचे लिखे उपायों से यह ज्ञान और भी शुद्ध एव निर्दोष किया जा सकता है।

(अ) ऋतुओं में अधिक प्रत्यक्ष परिवर्तनों—जैसे कि पत्तों और फूलों के आने, बढ़ने, बदलने और गिर पड़ने—का और एक छोटे पेड़ का, विशेषतः उसकी एक शाखा का, एक ऋतु से दूसरी ऋतु तक ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से।

(आ) जन्तुओं के बच्चों को देखने से।

(इ) यह बात सीखने से कि काम में आने वाली प्रत्येक वस्तु—जैसे कि जूतों के तलवे, सीढ़ियाँ, अथवा मानव शरीर—लगातार और बे-मालूम घिसती रहती हैं।

(ई) दायाँ, बायाँ, दिगन्त वृत्त, शिरोबिन्दु, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिगन्तसम, लम्बरूप, झुका हुआ, टेढ़ा, बड़ोला, और पुटाकार, रेखा गणित की मुख्य-मुख्य आकृतियों, शरीर के अवयवों और घड़ी जैसे सामान्य वस्तुओं के नाम; और अनेक दूसरी बहुमूल्य परिभाषाओं के नाम बातचीत करने से बड़ी सुगमता से सीखे जा सकते हैं।

(ड) वनस्पति-विद्या, शरीर-शास्त्र, नक्षत्र-विद्या, भूगर्भ-विद्या, पदार्थ-विज्ञान, जल-वायु विद्या, भूगोल इत्यादि और बड़े बड़े उद्योग-धंधों की थोड़ी सी मुख्य-मुख्य परिभाषाओं और बातों से परिचय हो सकता है।

बच्चों का न केवल शब्द-भण्डार ही बड़ा होना चाहिए, वरन् स्पष्ट, सुन्दर और फर्राटे से बोलने पर भी ध्यान रखना चाहिए।

(क) इस बात पर बहुत बल देना चाहिए कि बच्चे की बात अतीव निश्चित हो, और जहाँ सम्भव हो गिनने और नापने का यत्न करना चाहिए। तराजू और पैमाना (स्केल), सदा पास रहें।

(ख) "क्यों?" अवस्था भी अर्थात् जिस अवस्था में बालक कारण पूछने लगता है, समान रूप से मनोहर है। बड़े-बड़े सरकारी उद्यानों में काँच की छत और खिड़कियों वाला एक मकान होता है। इस काँच के घर में वे कोमल पौधे रखे जाते हैं जो बाहर की गरमी, सरदी और वर्षा नहीं सहन कर सकते। बच्चे को वह घर दिखला कर पूछिए कि इस के भीतर और बाहर के पौधों में क्या भेद है। वह कहेगा कि भीतर वर्षा नहीं होती, पत्ते गिर कर बिखरते नहीं, और भीतर पवन नहीं चलती। इसी प्रकार बच्चे के कोट में या किसी कुञ्ज में बैठने के समय पूछा जा सकता है कि यहाँ क्यों

बैठे हो ? वह उत्तर देगा कि मैं विश्राम के लिए, धूप से बचने के लिए, वर्षा से बचाव के लिए और वायु से सुरक्षित रहने के लिए यहाँ बैठा हूँ।

बालक से कभी ऐसे ढंग से प्रश्न मत करो जिस से उस का उत्साह ठण्डा हो जाय और मर जाय या वह डर जाय। जब आप को इस बात में तीव्र रुचि होगी कि बालक किसी वस्तु का एक और गुण अथवा किसी घटना का एक और कारण समझ सकता है कि नहीं, तब वह काम आप को पूर्ण रूप से एक मन-भाता खेल जान पड़ेगा, और प्रत्येक नई ढूँढी हुई बात अथवा कारण पर आप को अवश्य ही बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। इस प्रकार कामों के कारणों के विषय में बच्चों से असंख्य प्रश्न पूछ कर उन की "क्यों" बुद्धि से खूब काम लिया जा सकता है।

यदि आप का कोई बच्चा नदी की अपेक्षा वाटिका को, अथवा नगर की अपेक्षा गाँव को अधिक पसद करता है तो आप को इस के सारे कारण बड़ी उत्सुकता के साथ पूछने चाहिएँ। आप परिवार के लोगों के बीच, कपड़ों अथवा कुरसियों के बीच, और कुटुम्ब के भीतर एवं बाहर प्रत्येक प्रकार की ऐसी बात में जिस का ज्ञान बच्चों को हो, भेद पूछ सकते हैं।

(ग) इस निरूपित काल में अब तक भी जाति-निर्देश—

एक जाति की वस्तुओं को दूसरी जातियों की वस्तुओं से अलग करने—का काम कठिन है, क्योंकि इस के लिए पर्याप्त ज्ञान और तीव्र स्मृति की आवश्यकता है। पर्यवेक्षण से आप के बच्चों को छोटी-छोटी बातों का विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त हो गया हो, तो उस से काम लिया जा सकता है। यदि वे कहें कि जिस गौरैया को हम देख रहे हैं उस की दो टाँगें हैं, तो उस से पूछो कि तोते की कितनी टाँगें होती हैं? और इस प्रकार पूछते-पूछते साधारण रूप से सभी पंख वाले जीवों की टाँगों की संख्या पूछो। बाद को आप गौओं आदि की टाँगों तथा अल्पज्ञात गुणों के विषय में भी प्रश्न कर सकते हैं। इस प्रकार के जाति-निर्देश का प्रयोग आप सब प्रकार के पौधों और पक्षियों, घर और गली की सब प्रकार की वस्तुओं, और उन सब बातों पर कर सकते हैं जो आप के बच्चे जनता, मनुष्य-प्रकृति और मानुषी संस्थाओं के विषय में जानते हैं। विचार का फूल और फल विस्तृत परन्तु प्रमाणित जाति-निर्देश है। आप को चाहिए कि प्रकृत जगत् को सदा आश्चर्य-बुद्धि से देखें। इस से आप के बालक उन बातों को, जो उन की आँख, कान अथवा मन के सामने उपस्थित होंगी, नीरस समझ कर फीकेपन से स्वीकार न करेंगे। परन्तु उन की इस बुद्धि को बढ़ाने के लिए आप को बच्चों की कल्पना को उभाड़ना चाहिए। इस काल में बच्चों के लौकिक ज्ञान को बढ़ाने के लिए आप उन्हें विविध जातियों के विविध समयों में विविध प्रकार के

विश्वासों, रीतियों और अनुभवों के वृत्तान्त सुना सकते है।

इसी प्रकार जब आप बच्चों के साथ बाहर भ्रमण करने जायें, अथवा अन्य अवसरों पर, आप उत्तर ध्रुव, विषुव रेखा बम्बई, चीन, इंग्लैंड, अमेरिका, समुद्र, ज्वालामुखी और अन्य असख्य स्थानों की मूठ मूठ यात्रा, और राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द प्रभृति महात्माओं के भूठ मूठ दर्शन करा सकते हैं। आप को विभिन्न विषयों का जितना ज्ञान है, इस रीति से वह सारा आप उन को दे सकते है। परन्तु इस के लिए यह आवश्यक है कि आप उन का वर्णन एक बड़ी ही स्पष्ट और चटकीली कहानी के रूप में करें और आप बच्चों से ठीक उसी प्रकार करावें, मानो वे सचमुच पर्वत पर चढ रहे है, अथवा उत्तर ध्रुव में शीत से कॉप रहे है। जो मनोरञ्जक घटनाएँ अथवा बात आप समाचार पत्रों में पढें, या जो स्वय आप के दृष्टिगत हों, उन्हें भी आप सुना सकते है। पर जानकारी के रूप में नहीं, वरन् एक मनोरञ्जक अथवा एक आश्चर्य जनक वृत्तान्त के रूप में सुनाइए।

साधारण कहानियाँ सुनाने से भी बड़ा लाभ है। इन में बहुत सी मनोरञ्जक बातों का समावेश होना चाहिए। पचतत्र, ईसप और हितोपदेश की कहानियाँ बड़ी शिक्षाप्रद एव रोचक हैं। उन में थोडा बहुत परिवर्तन करने से आप बच्चों को नीति विद्या और आचार शास्त्र की अनेक बातें सिखला सकते हैं।

कहानी में यदि कोई अनुचित बात हो, तो उसे छोड़ या बदल दिया जा सकता है। पहिले अपने बच्चों के चरित्र और मन को बलवान् बनाओ, फिर उन्हें जीवन की विवाद-युक्त बातों के सामने खड़ा करो। यदि आप उन्हें अपने अनुभव और अपने बाल्यकाल से सम्बन्ध रखने वाली छोटी-छोटी कहानियाँ सुनावेंगे, तो वे निश्चय ही उन्हें बहुत पसन्द करेंगे और उन्हें सुनाने के लिए आप से बार-बार प्रार्थना करेंगे। ऐसी अवस्था में भी बहुत सी उपयोगी और आचार-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली जानकारी दी जा सकती है। पर इतना ध्यान रखिए कि आप की बातें बहुत कल्पनात्मक न हों, और उन का वर्णन सरल एवं स्पष्ट हो। उन्हें उपदेश और ताड़ना करने न लग जाओ।

अभी तक स्मरण शक्ति के विकास के लिए बहुत थोड़ा यत्न किया जा सकता है, पर फिर भी जितना कुछ हो सकता है, उस के करने से भविष्य में बहुत लाभ होने की आशा है। इस लिए आप को नियमपूर्वक ताज़े अनुभवों और अनुपस्थित लोगों तथा वस्तुओं के विषय में बहुत बार बात चीत करनी चाहिए, और अपने बालकों से वर्तमान और सुदूर भूत के सम्बन्ध में बहुधा प्रश्न करते रहना चाहिए।

पाँच से आठ वर्ष तक के बालकों के पाठ बहुत छोटे-छोटे होने चाहिएँ। वे पाँच से पन्द्रह मिनट तक के हों। शिक्षा का नियम यह होना चाहिए कि बालक को आरम्भ में ही थका

न दिया जाय। बिलकुल आरम्भ से ही शुरू किया जाय, और केवल तभी आगे चला जाय, जब बालक अपने कामों को पूरी तरह से सीख ले। यह भी आवश्यक है कि बालक काम करते समय न खेले, नहीं तो बालक और अध्यापक दोनों का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट होगा। खेलने और काम करने के लिए अलग अलग समय होने चाहियें अथवा कम से कम बालक गम्भीर कार्य करने में ऐसे आनन्द का अनुभव करे मानो वह खेल रहा है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि अध्यापक का धैर्यवान्, प्रसन्नचित्त और सहस्र बुद्धि होना आवश्यक है।

गिनती

एक छोटे से पाँच वर्ष के बालक को १,२,३,५,७ गिनने का स्वभाव था, और वह इस स्वभाव को छोड़ता न था। उसे बताया गया कि तू ४ और ६ छोड़ जाता है। स्वभावतः वह अपनी इस भूल को समझता भी था, परन्तु जब-जब वह गिनने लगता, पुराने स्वभाव के कारण पुनः वही भूल कर देता। कारण यह था कि दैवयोग से उस ने अशुद्ध गिनना सीख लिया था और वह उसे छोड़ता न था।

इसी प्रकार एक दूसरा बालक अपनी पुस्तक में बगुले के चित्र को सदा अबाबील ही कहता था, क्योंकि उस की खिलाई दाई ने उसे ऐसा ही बताया था। जब उस से कोई कहता कि यह अबाबील नहीं, तो वह बहुत चिढ़ता और रो रो कर उस के अबाबील होने पर आग्रह करता। यद्यपि शनैः-शनैः वह ढीला पड़ गया, परन्तु फिर भी वह यही कहता रहा—"यह अबाबील नहीं, बगुला है।" बहुत दिन के बाद उस ने इस नकारात्मक कथन को छोड़ा और बिना खिझे कहने लगा कि यह बगुला है। ऐसी बाधा थोड़ी सी भूल के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस लिए हमें बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए।

गिनना सिखाने की सब से सरल रीति उतरते और चढ़ते समय सीढ़ियाँ गिनना है। यदि धैर्य के साथ सीढ़ियों को बार-बार गिना जाय तो बालक संख्याओं को ध्यानपूर्वक सुनने और शीघ्र ही प्रत्येक सीढ़ी के साथ उस की ठीक संख्या को बोलने लग जाता है। पहली भूल से बचना चाहिए। फिर बच्चे, बिना किसी कष्ट के, पहले १२ तक और फिर २० तक गिनना सीख जाते हैं। जब उन्होंने एक बार २० तक गिनना सीख लिया, तब फिर वे १०० या इस से भी बड़ी किसी संख्या तक सुगमता से गिन सकते हैं। तीसरा पग एक मानसिक पग है। इस में ३०,४०,५० इत्यादि दशकों के व्यापार को समझना पड़ता है। परन्तु इन का समझना कुछ कठिन नहीं, क्योंकि ये ३,४,५ इत्यादि के साथ समान्तर रूप से चलते हैं।

सीढ़ियाँ गिनने का प्रयत्न करने के पहले, आरम्भ में १,२,३, को बार-बार कहने का अभ्यास कराना चाहिए। इस के अभ्यास के लिए अनेक अवसर हैं। उदाहरणार्थ—बिजली के लेम्प को जलाने या बुझाने के लिए स्विच को फिराते समय, अथवा ऐसे खेल खेलते समय जिन में ३ की संख्या अपने-आप बच्चे की स्मृति पर अंकित हो जाती है। तब हाथों और पैरों की उँगलियों को गिनना आरम्भ करो, और जब तक ५ तक अच्छी तरह से गिनना न आ जाय,

अधिक संख्या वाली वस्तुओं को गिनना आरम्भ न करो। बच्चे पहले पहल १,२,३,४,५ इत्यादि मशीन के सदृश अपने-आप कहना सीख जाते हैं। जब उन के सामने ५ चमचे या ५ रुपये या किसी अन्य प्रकार की ५ चीज़ें रख कर उन्हें गिनने को कहा जाता है, तब वे यथार्थ समय पर न ठहर कर यंत्र की भाँति शीघ्रता से गिनते चले जाते हैं। जब बच्चा गिन कर वस्तुओं की ठीक-ठीक संख्या बताने लगे, तब उसे उस की बुद्धि की उन्नति समझना चाहिए। बालक का ठीक समय पर ठहरना सीख जाना यह बताता है कि वह गिनती में पक्का हो गया है। आरम्भ में बच्चे में यह प्रवृत्ति देखी जायगी कि जब वह गिनने लगेगा, तब जहाँ तक उसे आता है, वहाँ तक गिन कर ही दम लेगा। उस का उपाय यह है कि बच्चे को बीच में रोक दिया जाय और उसे यह कर समझाया जाय कि ये पाँच चमचे हैं, ये पाँच रुपये (या जो वस्तु हो) हैं।

पहाड़े और गुणन बच्चों को अपने आप निकालने देना चाहिए। एक छोटे बालक को ६ का पहाड़ा याद नहीं होता था। उस के लिए उस के पिता ने निम्नलिखित सुगम विधि निकाली थी।

दोनों हाथ मेज़ पर रख दो, और प्रत्येक उँगली को क्रमशः एक संख्या के लिए खड़ा करो। जब ६ से गुणा करने को कहा जाय तब गुणक को दिखलाने वाली उँगली को उठाओ

और शेष उँगलियों से गुणन-फल पढ़ लो। बाई ओर की उँगलियों की संख्या गुणन-फल के दशकों को और दाईं ओर की उस की इकाईयों को प्रकट करती है।

गणित शास्त्र में लड़कों और लड़कियों की रुचि बनाए रखने की एक अच्छी विधि यह है कि उन्हें थोड़े से गणित-सम्बन्धी सरल-सरल खेल बता दिए जायें, जिन्हें वे अपने आप कर सकें। ताश के पत्तों के खेल इस में बड़ी सहायता दे सकते हैं। एक खेल जिसे 'मन की बात बूझना' कहा जा सकता है, नीचे दिया जाता है।

मान लीजिए कि आप किसी व्यक्ति से कहते हैं कि १ से १५ संख्या तक किसी एक अंक को मन में धारण कर ले और निम्नलिखित पंक्तियों में से जिन-जिन में वह आता हो, वे पंक्तियाँ बता दे:—

१	३	५	७	९	११	१३	१५
२	३	६	७	१०	११	१४	१५
४	५	६	७	१२	१३	१४	१५
८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

जब आड़ी पंक्तियों का पता लग गया, जिन में वह अंक है, तब फिर उस का बताना कठिन नहीं। केवल उन पंक्तियों के पहले अंकों का जोड़ कर लो। योग-फल वह संख्या होगी।

तनिक ध्यानपूर्वक देखने से आप को मालूम हो जायगा कि ३ दो पंक्तियों में आता है, और उन के पहले अंक १ और २ हैं; ५ उन पंक्तियों में आता है जिन के पहले ४ और १ हैं; और १५ चारों में हैं, और उन के पहले अंक १,२,४ और ८ हैं।

पदार्थ-विज्ञान

जिन विद्याओं के जानने से बड़ी आयु में लाभ पहुँचने की संभावना है, उन सब की प्रारम्भिक मोटी मोटी बातें और सचाइयाँ बच्चों को सिखलाने में कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। यथासंभव उन्हें ऐसी सब बातों से परिचित करा दो जिन से उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा मिल सकती हो। उन्हें आँख से दिखला कर तत्त्वों का ज्ञान कराओ। यह उन्हें बड़ी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सचाइयों के उदाहरणों का काम देगा। पहली शिक्षा उन्हें केवल कोई वस्तु दिखा कर, या उन के सामने कोई प्रयोग कर के ही देनी चाहिए, परन्तु यह ध्यान रहे कि उन्हें चटपट साथ ही उन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए गढ़े हुए लंबे चौड़े सिद्धान्त न समझाने लग जाना चाहिए। यदि इन सिद्धान्तों का वर्णन करने भी लगें तो यह अवश्य कह दो कि ये कल्पित हैं। प्रयोग को अपने-आप बोलने दो और बच्चे को उस के समान अथवा उसी प्रकार के अन्य प्रयोगों एवं अनुभवों की याद दिलाओ।

भौतिक विज्ञान (फ़िज़िक्स) के अनेक बहुत सरल प्रयोग घर में भी हो सकते हैं। जल से भरी हुई एक बाल्टी की पेंदी पर से एक गिलास को उलटा कर के बच्चों से

उठाओ। उन्हें एक खाली गिलास को, जिस में वायु हो, उलटा कर के पानी के नीचे डुबाने को कहो। बाँस की एक ओर से बंद नली ले कर उस के अधोभाग की ओर पेन्दी से कुछ ऊपर एक छोटा सा छेद करो। फिर नली में पानी भर कर छेद के द्वारा बाहर बहने दो। इस से तुम बच्चों को समझा सकोगे कि जल की धारा नली में पानी के दबाव के अनुसार है।

इसी प्रकार खोखले नरसल की दोनों ओर से खुली एक पतली सी नली को पानी से भरी हुई बाल्टी में रख कर भरो, और पानी के भीतर ही ऊपर की ओर के छेद को भी भली प्रकार हाथ से बंद कर के नली को बाहर निकाल लो। जब तक ऊपर का छेद हाथ से बंद रहेगा, नली के निचले छेद से पानी बिलकुल नहीं गिरेगा। दो-एक बूँद कदाचित् गिर जायँ तो गिर जायँ।

बच्चों को यह मालूम करने दो कि लकड़ी के एक टुकड़े को तैराने के लिए कितना गहरा पानी चाहिए। फिर विभिन्न घन पिण्डों को ले कर उन्हें तुलना करने दो। आप देखेंगे कि आप की थोड़ी सी सहायता से ही वे अपने-आप इस सिद्धान्त को मालूम कर लेंगे कि तैरती हुई वस्तु का भार, उस पानी के बराबर होता है जिसे वह अपने स्थान से निकाल देती है। बच्चों से कहो कि सोचें कि खाली बर्तन,

चाहे वे चीनी के हों और चाहे लोहे के, क्यों तैरते रहते हैं, पर पानी से भर जाने पर क्यों डूब जाते हैं।

इस के अतिरिक्त जो बच्चे यह जानते हैं कि लोहा भारी होता है, वे जब पानी के पृष्ठतल पर सावधानी से रखी हुई सुई को तैरते देखेंगे तो बड़े प्रसन्न होंगे। यदि सुई को पहले तेल या घी से चुपड़ लिया जाय तो यह प्रयोग अधिक अच्छी तरह से सफल हो सकता है। जल के परमाणुओं की पारस्परिक संलग्न शक्ति सुई आदि छोटी-छोटी वस्तुओं को तैराने के लिए पर्याप्त दृढ़ होती है। परन्तु वे वस्तुएँ इतनी साफ होनी चाहिए कि उन से पृष्ठतल (जो एक झिल्ली का काम देता है) का संबंध न टूटे। लोहे की पतली जाली (जैसी कि खिड़कियों में लगाई जाती है), विशेषतः जब उसे पहले पिघले हुए मोम में डुबा लिया जाय, तैरने लगती है। परन्तु कागज़ नत्थी करने की पिन झट डूब जाती है, क्योंकि उस का सिरा पानी की झिल्ली को फाड़ डालता है।

फिर किसी दूसरे समय एक बाल्टी में, अथवा कोई प्याली हो तो और भी अच्छा है, एक सिक्का (दुवन्नी, चवन्नी आदि) रक्खो, और बच्चों से एक विशेष स्थान से, जहाँ से कि वह सिक्का बर्तन के किनारे की ओट में आ जाता हो, उसे देखने को कहो। तब बर्तन को पानी से भर दो। अब प्रकाश की किरणों के झुकाव के कारण वह सिक्का, जो पहले दिखाई

न देता था, दीखने लगेगा। तब पानी से भरे हुए काँच के गिलास में एक चमचा डालो और बच्चों का ध्यान उस की प्रतिच्छाया के टेढ़ेपन की ओर दिलाओ।

लोहे की पतली जाली के द्वारा बच्चों को दीपक की प्रज्वलित शिखा (टेम) का भीतरी भाग और उस की सारी रचना, भौतिक विज्ञान के सभी प्रयोगों को कर के दिखाई जा सकती है।

जब कभी वर्षा हो चुकने के उपरान्त आप बच्चों के साथ बाहर घूमने जाएँ, तब उन्हें बताइए कि जिस प्रकार पानी की ये छोटी छोटी धाराएँ बन कर एक बड़ा प्रवाह बन रही हैं और भूमि को खोदती जाती हैं, उसी प्रकार नदी और नाले मिल कर अपने पथ और घाटियां बनाते हैं।

रेशमी कपड़े से बिजली के प्रयोग दिखलाए जा सकते हैं। रेशमी कपड़े को कांच के गिलास या बोतल के पेंदे से रगड़ो और फिर देखो कि इसपात के चाकू, चांदी के चमचे, हाथ और कांच आदि वस्तुओं के बार-बार निकट लाने से तागों को क्या होता है। जब वायु सूखी हो और सिर के बाल भी सूखे हों, तब अंधेरे में अपनी लम्बी दाढ़ी या बच्चों के सिर पर कंघी करो, या लोई आदि कोई ऊनी कपड़ा सिर के सूखे बालों पर रगड़ो। बालों से चिङ्गारियां निकलेंगी।

चिङ्गारियों के साथ तड़ तड़ का शब्द भी निकलेगा। इस से बच्चे बहुत प्रसन्न होंगे। बच्चों के लिए खिलौने लेते समय भी इस बात पर ध्यान रखो कि यथासंभव वही खिलौने लिए जायें जिन से मनोरञ्जन के साथ-साथ बालक की ज्ञान वृद्धि भी हो।

महँगा रोवे एक बार, सस्ता रोवे बार-बार

मुफ्त में चीज़ लेने या असल मूल्य से कम देकर लाभ उठाने की कामना मनुष्य में स्वाभाविक ही है। जो व्यापारी यह कहते हैं कि दिवाला निकल जाने से या किसी दूसरे कारण से हम लागत से भी कम मूल्य पर माल वेचने के लिए विवश हुए हैं, उन का विश्वास सोच-समझ कर ही करना चाहिए। कारण यह कि 'लूट! लूट!! महा लूट!!!' के फंदे में पड़ने से धन के बदले प्रायः बहुत निकम्मा माल मिलता है। कम दामों में निकम्मी वस्तु खरीदने से धन भी जाता है और चीज़ तो बुरी मिलती ही है। सस्ती चीज़ें केवल 'वेचने क लिए' ही बनाई जाती है, यह बात आगे लिखी कथा से मालूम हो जायगी:--

एक मनुष्य बाज़ार में उस्तरे बेच रहा था। "बारह आने के अठारह उस्तरे!" "बारह आने के अठारह उस्तरे!" इस प्रकार वह आवाज़ें देता फिरता था। यह निस्सन्देह बहुत सस्ता सौदा मालूम होता था। सब किसी के मन में ऐसी लूट लूटने की लालसा उत्पन्न होती थी। एक ग्रामीण किसान ने उस्तरे वाले की यह आवाज़ सुनी। किसान को हजामत बनवाए बहुत दिन हो गये थे। उस की ठुड्डी पर चप्पा-चप्पा बाल बढ़ रहे थे। उस ने झट सहर्ष बारह आने देकर अठारह

उस्तरों का एक डिब्बा खरीद लिया, और उस डिब्बे की सुन्दरता एवं उस्तरों की चमक देखता हुआ मन ही मन कहने लगा—"मालूम होता है, यह बदमाश कहीं से ये उस्तरे चुरा लाया है। पर मुझे क्या, मुझे तो अपनी हजामत बनानी है!" घर पहुचते ही वह हजामत बनाने बैठा। कानों और आँखों तक सारा चेहरा उस ने पानी से खूब रगड़ डाला। अच्छी तरह रगड़ चुकने पर वह एक उस्तरा ले कर बड़े कष्ट के साथ दाढ़ी को खुरचने लगा, मानों उलटे खुरपे से घास खोद रहा है। 'यह उस्तरा निकम्मा है, हजामत नहीं बनाता', ऐसा कह कर बड़े दुःख से उस ने पहला उस्तरा अलग रख दिया और दूसरा लिया। इस तरह सब उस्तरों को एक-एक कर के उस ने चला कर देखा। पर सब एक से ही भोंतरे निकले। तब उस ने ठण्डी साँस भर कर कहा—"क्या ही अच्छा होता जो मेरे बारह आने मेरी जेब में ही रहते। भला बारह आने में भी कभी अठारह उस्तरे मिलते हैं! और फिर, मुझे उस्तरों की आवश्यकता ही क्या थी? बड़ी भूल हुई—

> मक्खी बैठी शहद पर, पंख गये लपटाय।
> हाथ मले और सिर धुने, लालच बुरी बलाय॥

दाढ़ी को मूँड़ने और चेहरे की सुन्दरता को बढ़ाने का व्यर्थ यत्न करते हुए उस ने सारे मुख मण्डल पर घाव कर

लिए—उस्तरे की काट से जगह-जगह गढ़े पड़ गये। किसान जी जन्म कर्म में पहली ही बार तो अपने-आप अपनी हजामत बनाने बैठे और सो भी भौन्तरे उस्तरे से ! कई जगह सूजन पड़ गई। कई जगह से रक्त की धारा बहने लगी। बेचारा तंग आकर इधर-उधर कूदने और तलमलाने लगा। वह एक-एक उस्तरे को बार-बार कोसता था। उस की खाल कड़ी थी और बाल सुअर के समान मोटे। इस लिए उन का मूँड़ना आसान न था। वे वैसे के वैसे बने रहे। मारे क्रोध के गँवार किसान उस धोखेबाज़ उस्तरे वाले पर दांत पीसने लगा—"सूअर ! तेरे उस्तरे तो नकटे की नाक भी नहीं काटते।"

यों खिसियाता हुआ वह उस्तरे वाले को ढूँढ़ने दौड़ा। जब वह मिला तो उस से बोला—"मियाँ उस्तरे वाले, लोगों की जान जाय और तेरी हँसी ठहरी ! अरे नीच ! मैं तेरे भौन्तरे उस्तरों के साथ दाढ़ी को रगड़-रगड़ कर थक गया, पर हजामत न बनी। जो उस्तरे हजामत नहीं बना सकते, उन के बेचने के लिए आवाज़ें दे कर तू भारी छल कर रहा है !" उस्तरे वाले ने उत्तर दिया—"मित्र, मैं छल नहीं करता। जो उस्तरे तुमने खरीदे हैं, मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मेरा तो यह कभी खयाल भी न था कि वे हजामत बनावेंगे; और न मैं ने तुम से कभी यह कहा ही था कि इन से हजामत बनाई जा सकती है।" यह सुन गँवार को बड़ा आश्चर्य हुआ

और वह झुँझला कर बोला—"है ! तुम्हारा खयाल न था कि हजामत बनावेंगे ! कुत्ते ! तो वे फिर बनाए किस मतलब के लिए गये हैं ?" उस्तरे वाले ने मुस्किरा कर उत्तर दिया—"वे बनाए गये हैं बेचने के लिए।"

दुःख की बात है, पर है यह सच ही, कि बहुत से लोग अपने जीवन में केवल इसी लिए धोखा खाते हैं कि उन की इच्छा दूसरों को धोखा देने की होती है। एक उदाहरण लीजिए। जुआरी लोग एक चाल चला करते हैं। यह चाल अनजान लोगों के साथ सदा चल जाती है। जुआरी ताश क तीन पत्ते रख कर लोगों को उन में से किसी एक पर शर्त लगाने को कहता हे। पत्ते रखते समय जुआरी की पिछली तरफ कहीं हल-चल सी होती हे। वह क्रुद्ध होकर उस ओर मुँह फेरता है और लोगों से चुप रहने की प्रार्थना करता हे। उस की इस दिखावटी असावधानता के समय उस के निकट खड़ा एक मनुष्य एक पत्ता उठा कर दूसरों को दिखला देता है और फिर उसे वहीं धर देता है। यह काम वह इतनी फुरती से करता है कि जुआरी इसे देख नहीं पाता। पर लोग धोखे में आ जाते हैं और अपना धन जोखिम में डाल देते हैं। क्योंकि जब उस पत्ते को उठा कर देखते हैं तो वह वही पत्ता नहीं निकलता जो कि दिखलाया गया था! पत्ते को उठा कर दिखलाने वाला मनुष्य जुआरियों के दल में से ही एक होता

है। वह हाथ की चालाकी में बड़ा निपुण होता है पत्ते को उठा कर दुबारा रखने के पहले वह उसे बदल देता है—उस की जगह दूसरा रख देता है। इस प्रकार जुआ खेलने वाले लोग उस जुआरी को धोखा देने के यत्न में आप ही ठगे जाते हैं।

चापलूसी बड़ा पेचदार फंदा है। यह चतुर से चतुर मनुष्य को भी फँसा लेती है। घमंडी लोग तो, जहां उन की तनिक प्रशंसा की कि झट ही फँस जाते हैं। अपनी योग्यता, अपनी कीर्ति, और अपनी बड़ाई की बातें सुन कर वे तुरन्त धोखे में आ जाते हैं इस लिए बच्चों को कौए और लोमड़ी की प्रसिद्ध कथा याद करा देनी चाहिए, जिस से वे चापलूसों से बचते रहें। बच्चों को छोटी आयु में ही, जैसे ही वे समझने के योग्य हो जायँ, प्रतिदिन दृष्टिगोचर होने वाले व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा यह भली भाँति निश्चय करा देना चाहिए कि छल और ठगी से कभी लाभ नहीं होता। जो मनुष्य दूसरों की हानि या छल से तुम्हें लाभ पहुँचाने की आशा दिलाता है, उस पर विश्वास करना ठीक नहीं। दूसरों को ठग कर लाभ उठाने के यत्न में बहुत कुछ हानि हो सकती है। ऐसे लालच से सदा बचना चाहिए।

चौथा खण्ड

प्रशंसा की प्रधानता

प्रशंसा-काल—सात वर्ष से लेकर कोई इक्कीस वर्ष की आयु तक

इस काल में बच्चों में अनेक असम्बद्ध एवं स्वतः कार्य करने वाले स्वभाव डाल कर उन्हें थकाने की आवश्यकता नहीं। इस समय आवश्यकता है बुरे स्वभावों को रोकने और उत्तम स्वभावों को उभारने के लिए किसी छोटी और सरल विधि की। और यह विधि तभी मिल सकती है जब आप के सामने सदा कोई जीवन का आदर्श हो, क्योंकि इस से आप ही आप सब बुरे स्वभाव दूर हो जाते और उत्तम स्वभाव आ जाते हैं। आप को इस बात पर बल देना चाहिए कि बालक सुव्यवस्था से, सत्य से, और दूसरे लोगों से प्रेम करे। इन्हीं सद्गुणों के धारण करने से उस का जीवन शुद्ध होगा। ज्यों-ज्यों बच्चे बढ़ कर किशोर अवस्था को प्राप्त होते जायँ, आप को दिन-पर-दिन जीवन के इस विषय पर बल देते जाना चाहिए कि सब मानवी व्यवहारों में, और विचार, वाणी, लेख तथा कर्म में, प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान चिन्ता यही होनी चाहिए कि पूर्ण रूप से जागरित और शुद्ध अन्तःकरण जिस बात की आज्ञा दे उसे फुरती तथा होशियारी के साथ, हर्ष से, निपुणता से और सहानुभूति के भाव से किया जाय।

किशोर अवस्था के विशेष गुण

इस काल में इन गुणों पर भली भाँति बल दिया जा सकता है।

(क) जिस बात को मनुष्य ठीक और युक्ति-संगत समझता है, उसे फिर निःसकोच भाव से करना। इस से उचित कर्म दबने और अनुचित कर्म उभरने नहीं पाते।

मान लीजिए कि सुव्यवस्थिति, फुरती, समय पालन, सत्यता, दृढ़ता, सयम, पवित्रता, उद्यम, अच्छी सङ्गति, विद्या, कला और प्रकृति से प्रेम, सत्कर्म पर भक्ति, इत्यादि को बालक ठीक मानने लगे हैं। अब बड़ी आवश्यकता यह रह जाती है कि जब काम करने का समय आवे, तब बालक अपने इन सिद्धान्तों को शोधने न बैठ जायें। पहले उन्हें काम कर लेना चाहिए, इस के उपरान्त चाहे वे जितनी सावधानी से विचार करते रहें कि भविष्य में हमें किस प्रकार आचरण करना होगा। यदि बालक यह ठान ले कि किसी विशेष प्रलोभन के युक्ति सगत होने के विषय में हम उस प्रलोभन के समाप्त हो जाने के पश्चात् ही विचार करेंगे, तो इतने से ही बहुत से प्रलोभन उन के पास फटकने न पायेंगे। इस का अर्थ यह है कि बालकों को इस बात का निर्णय कर रखना चाहिए कि कौन सी रीति

का व्यवहार ठीक है; और जब कर्म करने का समय आवे, तब उस के विषय में वे कभी सन्देह न करें।

(ख) इस तीसरे काल का प्रधान गुण सचाई है। यदि यह गुण आप के बच्चों में है तो--

(१) वे आप से कोई बात छिपा न रक्खेंगे।

(२) वे किसी नीच एवं अधम काम के अपराधी न बनेंगे।

(३) वे बुरी सङ्गति से बचेंगे।

(४) वे किसी षड्यंत्र में भाग न लेंगे।

(५) वे अपने प्रति तथा दूसरों के प्रति निष्कपटता का व्यवहार करेंगे।

आप को यह भी स्मरण रहना चाहिए कि जब उन का एक बार सत्य पर प्रेम हो जाय, तब वे क्या स्कूल में और क्या स्कूल से बाहर; बड़ी उत्सुकता एवं तत्परता से अपने ज्ञान को बढ़ाते रहेंगे। सत्यानुराग से इस काल के उपयुक्त पवित्रता और संयम प्रभृति अन्य बड़े-बड़े गुणों को भी लाभ पहुँचेगा।

(ग) सचाई का पड़ोसी सद्गुण "माता-पिता के प्रति विश्वास का भाव" है। इस अवस्था में यह गुण बड़े ही महत्त्व का है। आप के बालक आप से परामर्श लिए बिना कभी कोई बड़ा काम आरम्भ न करें। इस सद्गुण के होने

से आप उन्हें ब्रह्मचर्य के पालन और आचार-शुद्धि में भारी सहायता दे सकेंगे। बालक कभी किसी ऐसी बात को पसंद न करेगा जिसे उसे आप से छिपाने की आवश्यकता जान पड़े।

(घ) जब आप के बच्चे बढ़ कर पुरुष और स्त्रियाँ बन जायँ, तब संस्कृति—अर्थात् दूसरे लोगों की आवश्यकताओं, भावनाओं और भावों का सूक्ष्म परिज्ञान, और दूसरों के सुख-दुःख में उन के साथ सहानुभूति—उन से पूर्ण रूप से प्रकट होनी चाहिए।

(ङ) कुमारों का उद्यम से प्रेम इस बात से प्रकट होना चाहिए कि उन में अपनी आजीविका कमाने की इच्छा उत्पन्न हो और वे अपने व्यवसाय को ईमानदारी और योग्यता से करें। दूसरों के लिए उपयोगी बनने का प्रेम इस बात से प्रकट हो कि बालक इस काल के अन्त में चतुर और आस्तिक नागरिक बन जायँ।

स्कूली जीवन और माता-पिता

प्रत्येक बालक के लिए स्कूल जाना आवश्यक है; और स्कूली जीवन कोई सात वर्ष की आयु से आरम्भ हो जाना चाहिए। इस बात को मान कर, इस आयु से घरेलू शिक्षा को एक विशेष सीमा तक, स्कूली जीवन के अनुसार ठीक करना आवश्यक है।

आप के बच्चों को "साफ और सुथरा" हो कर स्कूल जाना चाहिए। इस के साथ ही समय-पालन भी उन के लिए वैसा ही आवश्यक है।

कदाचित् आप पर यह बात स्पष्ट न हो कि "स्कूल जाने में नागा न करना" बड़ा ही आवश्यक है जब तक कोई बहुत ही बड़ा कारण न हो, बच्चों का स्कूल से नागा नहीं होने देना चाहिए। कारण यह कि दुर्भाग्य से अध्यापक एक-एक बालक पर अलग-अलग बहुत थोड़ा ध्यान दे सकता है; और जो बालक अनुपस्थित होते हैं, उन्हें अगले पाठों को समझने में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई होती है। इस प्रकार अनेक बार कक्षाओं में गड़-बड़ हो जाती है।

यदि बालकों को "सादा और आरोग्य-वर्धक भोजन" दिया जाय, यदि वे स्वच्छ वायु में रहें और "यथेष्ट व्यायाम" करें,

और यदि उन्हें 'छूत के और दूसरे रोगों से बचाया जाय' तो स्कूल को बड़ी सहायता मिलती है।

आप को मुख्याध्यापक और अपने बालकों के अध्यापकों से मिलते और शिक्षा-सम्बन्धी बातों में उन से परामर्श करते रहना चाहिए। आप को चाहिए कि अपने बच्चों के विद्याभ्यास में खूब दिलचस्पी लें; उन्हें सहायता दें; उन के साथ पढ़ें; स्कूल और स्कूल के अनुभवों के विषय में उन के साथ वादानुवाद करें; और साधारणतः मानसिक एवं नैतिक प्रगति के प्रति प्रेम को उभारें।

यदि आप के बच्चों में संगीत, चित्रकारी या ऐसी ही किसी दूसरी चीज़ के लिए विशेष क्षमता हो, तो उसे उत्साहित करना चाहिए।

प्रकृति और ललित कलाओं के प्रति प्रेम को उभारना चाहिए। इस के लिए ग्रामों, चित्रशालाओं और ऐसे ही अन्य स्थानों के अवलोकनार्थ बार-बार जाना चाहिए।

घर पर विद्याभ्यास का स्वभाव बड़े परिश्रम से उत्पन्न करना चाहिए। एक अच्छा एटलस (भूमण्डल के देशों के मान-चित्रों की पुस्तक), जीव-विद्या पर रंगीन चित्रों वाली कुछ पुस्तकें, बड़े-बड़े इतिहासज्ञों के लिखे हुए इतिहास पर ग्रन्थ, ऐसे काँच जिन में छोटी वस्तु बड़ी दिखाई देती है, सूक्ष्म दर्शक यंत्र

और इन के ऐसे अन्य यंत्र बच्चों के लिए घर में होने चाहिएँ। बाल रामायण और बाल महाभारत प्रभृति पुस्तकों का पढ़ना, जिन को बालक किसी सीमा तक समझ सकें, बड़ा आवश्यक समझा जाना चाहिए। कारण यह कि इन श्रेष्ठ ग्रन्थों से युवकों और युवतियों को अपने लिए आदर्श एवं रुचि बनाने में बड़ी सहायता मिलती है।

ऐसे विद्याभ्यास का यह मतलब नहीं कि बालक खेलना छोड़ दें या अच्छे लोगों को मित्र न बनावें। न यह अभ्यास आप के बच्चे अपने लिए जो कुछ कर सकते हैं, उस के करने और घर में थोड़ी सी सहायता देने, इत्यादि बातों में बाधक होना चाहिए।

यथासाध्य आप के बच्चों में सहयोग और इकट्ठे मिल कर काम करने का भाव होना चाहिए। स्कूल छोड़ने में जब थोड़े दिन रह जायँ, तब भविष्य के विषय में उन के साथ प्रायः बात चीत होती रहनी चाहिए।

स्कूल जाने के पहले केवल आप ही बालक के स्वभाविक पथ-प्रदर्शक थे। परन्तु अब बहुत से और पथ-प्रदर्शक अपने आप को सामने ला उपस्थित करते हैं, और इन में से अनेक सन्दिग्ध हो सकते हैं। इस लिए यह अत्यावश्यक है कि आप बालक के 'परम मित्र' बने रहें; और अपने बच्चों के लिए, जब तक वे अनुभव और शिक्षा से शून्य हैं, धर्म को अधर्म से अलग कर के दिखलाते रहें।

स्कूल और घर

स्कूल और घर दोनों को मिल कर काम करना चाहिए। उन के लिए इस से बढ़ कर और कोई अच्छी बात नहीं कि वे दोनों एक ही योजना पर चलें।

इस समय घर में किसी कल्पना पर नहीं चला जाता, और स्कूल की स्कीम घर का कुछ भी ख्याल नहीं करती। वास्तव में, माता-पिता को अपने बाल्य काल की अनिश्चित स्मृति और अपने बालकों के सुनाए हुए क्रमहीन वृत्तान्तों के सिवा स्कूल के लक्ष्य और कार्य के विषय में क्रियात्मक रूप से कुछ भी ज्ञान नहीं होता। 'घर और स्कूल को मिलाने' के लिए माता-पिता और शिक्षा-विभाग को निश्चित प्रयत्न करना चाहिए। अमेरिका के संयुक्त राज्यों की भाँति माता-पिता को स्कूल देखने के लिए, जितनी अधिक बार संभव हो सके, बुलाना चाहिए। बहुत से ऐसे अवसर निकालने चाहिएँ जब माता-पिता और अध्यापक आपस में मिल कर खूब बात चीत कर सकें; और जहाँ स्कूल और घर दोनों के पक्षों को दिखलाने वाले व्यख्यान दिये जायँ। कक्षाओं के अध्यपकों और उन के शिष्यों के माता-पिता के बीच इतना परिचय और प्रेम होना चाहिए कि वे एक दूसरे से घर पर मिल लिया करें। साधारणतः

हेडमास्टरों और उन के सहायक अध्यापकों के पास तीस-तीस मिनट की ऐसी घंटियाँ होनी चाहिएँ जिन में वे माता-पिता से मिल सकें।

फिर भी अपेक्षाकृत ये बातें तुच्छ हैं। घर में आद्योपान्त शिक्षा के न होने से सुव्यवस्थित शिक्षा का सारा बोझ स्कूल पर आ पड़ता है; और साधारणतः बालक स्कूल में ठीक तौर पर तैयार हो कर नहीं जाते। इस लिए सुव्यवस्थित शिक्षा प्रायः पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती। हम कह आए हैं कि शिक्षा जन्म से ही आरम्भ हो जानी चाहिए। यदि पहले सात वर्ष तक इस ओर कुछ भी ध्यान न दिया जायगा और घर में किसी समय भी इसे उभारा न जायगा, तो फिर कोई स्कूल अथवा कोई अन्य शक्ति इसे सफल न कर सकेगी। इस लिए सब से बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि घर और स्कूल दोनों में शिक्षा की एक ही पद्धति हो।

पर्यवेक्षण, तुलना, निर्णय, जाति-निर्देश, अनुमान, सत्याचरण, स्मृति, संक्षिप्त एवं सावधान भाषण का प्रायः बचपन से ही घर पर अभ्यास कराना चाहिए। स्कूल में भरती होने के पहले बालक प्रकृति और मनुष्य के विषय में अनेक मोटी-मोटी बातें सीखा हुआ होना चाहिए। इस के अतिरिक्त यदि सम्पूर्ण नैतिक शिक्षा और अच्छे शारीरिक

स्वभाव भी उस ने प्राप्त किए हों, तो स्कूल में उस की उन्नति की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। यदि स्थान-स्थान पर ऐसी कक्षाएँ खुल जायँ जहाँ माता-पिता, खिलाइयों और अन्य स्त्रियों को घर पर शिक्षा देने की विद्या मौखिक एवं व्यावहारिक रूप से सिखलाई जाय, तो जनता को भारी लाभ पहुँच सकता है।

व्यवसाय-प्रवेशिका

जब प्रारम्भिक शिक्षा का काल समाप्ति के निकट पहुँचे, तब आप को उचित है कि अपने बालकों के भविष्य के विषय में गम्भीरता-पूर्वक और शान्ति के साथ विचार करें। व्यवसाय चुनने जैसे कार्य के महत्त्व पर ध्यान रखते हुए आप को बच्चे के लिए ऐसा व्यवसाय चुनना चाहिए—

(क) जहाँ ईमानदारी की कदर हो;

(ख) जहाँ काम स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला अथवा बहुत अधिक थका देने वाला न हो;

(ग) जहाँ परिवार के लिए पर्याप्त धन कमाया जा सके;

(घ) जहाँ बीच-बीच में धन्धे के छूट जाने से कभी-कभी खाली बैठ जाने की सम्भावना न हो; और

(ङ) जहाँ काम सामाजिक रीति से उपयोगी हो और जिस में सचेत बुद्धि की आवश्यकता हो।

जिस प्रकार स्कूली जीवन ने आप के बच्चे के सामने एक नये संसार के द्वार खोल दिए थे; व्यवसाय-प्रवेशिका भी ठीक वैसा ही करती है। उस के साथी अब वास्तव में उसी आयु के नहीं। वह अब तीस या चालीस शिक्षाशील बालकों की कक्षा में से एक नहीं। अब उस पर कठोर निरीक्षण नहीं।

सब प्रकार के अलग-अलग काम उसे सौंपे जाते हैं। वह अपनी आजीविका उपार्जन करना आरम्भ कर रहा है। वह उत्तरदायित्व और स्वाधीनता के जीवन के लिए तैयारी कर रहा है।

जहाँ स्कूल का उद्देश्य बालक को जीवन-संग्राम के लिए तैयार करना है, वहाँ स्कूल के पश्चात् किसी धन्धे में लगना एक सुगम काम होगा। परन्तु जहाँ स्कूल एक अलग सृष्टि है जिस में घर का और स्कूल छोड़ने के बाद के काल का कुछ ध्यान नहीं रखा जाता, वहाँ किसी दफ्तर या कारखाने में प्रवेश करना बालक के लिए एक भारी परिवर्तन और आवश्य कता से बढ़ कर कष्ट जनक होता है। आज कल हमारे स्कूलों की कुछ ऐसी ही दशा है। इस लिए हमें घर पर भरोसा करना चाहिए कि वह इस विषय में अपना कर्तव्य पालन करेगा।

सामान्य युवक, जिसे घर और स्कूल की सुधारने वाली शिक्षा नहीं मिली, व्यवसाय में पैर रखते ही अपनी स्थिति को खो देगा। जो कल्पित स्वाधीनता वह प्राप्त करता है, उस का अर्थ वह निरङ्कुशता समझेगा। उस के बोलने के आदर्श के बिगड़ जाने, उस की शुद्धता के कम हो जाने, मदिरा, तमाकू और अन्य दोषों के घुस आने, दूसरों के प्रति सम्मान भाव के घट जाने, यहाँ तक कि काम से जी चुराने और आलस्य को सद्गुण समझने की सम्भावना रहती है।

शिष्य को यत्न-पूर्वक अपनी जीभ को गन्दी होने से बचाते रहना चाहिए। उसे चाहिए कि जो नीच लोग उसे खिझा कर अपने जैसा नीच और गाली देने वाला बनाना चाहते हैं, उन के अपशब्द सुन कर उन पर मुस्करा दे। उसे चाहिए कि अपने लिए कम-से-कम एक अभिन्न-हृदय साथी ढूँढ़े; अथवा यदि कोई ऐसा न मिले तो किसी एक को आप उच्च कर के अपने समान बना ले। उसे यह दिखला देना चाहिए कि वही मनुष्य बुद्धिमान् और बलवान् है जो अपने आप को वश में रख सकता है। आत्मशक्ति का मार्ग पशु और नर-पिशाच का मार्ग है। अपने से ऊपर के लोगों—अधिकारियों, हेड क्लार्कों, मालिकों—के विषय में उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि वे व्यापारिक बातों में तो उस से ऊपर हैं, पर आवश्यक नहीं कि नैतिक बातों में भी उस से ऊपर हों। अन्ततः तरुण अवस्था को प्राप्त होने के कुछ समय पहले उसे किसी धर्म-समाज अथवा आचार-सुधार सभा में सम्मिलित हो जाना चाहिए। फिर इस के थोड़े समय उपरान्त उसे किसी ऐसी राजनीतिक सभा को भी थोड़ी-थोड़ी सहायता देने लग जाना चाहिए जिस से उस के अपने विश्वास मिलते हों।

व्यवसाय-प्रवेशिका शब्द का उपयोग यहाँ व्यापक अर्थों में किया गया है। इस में सब प्रकार के काम और व्यवसाय आ जाते हैं।

विदेशी भाषाएँ

बालकों को दूसरी जातियों के विषय में मनोरञ्जक बातें सुना कर विदेशी भाषाओं से परिचित करा देना चाहिए। बच्चों को अंगरेज़ी, जर्मन, या फ्रेंञ्च के छोटे-छोटे छन्द और वाक्य सिखलाओ। परन्तु इस बात का ध्यान रखो कि उच्चारण शुद्ध हो। युवकों की अपेक्षा, बच्चे विदेशी शब्दों के स्वरों को अच्छी तरह ग्रहण करते और तत्पश्चात् उन्हें ठीक तौर पर दुहराते हैं। बच्चे छोटे-छोटे गीतों और छन्दों को सुन कर बड़े प्रसन्न होते हैं। उचित यह है कि ऐसे भाषा-विषयक प्रयोगों का अभ्यास रात को सोने के पहले कराया जाय और दूसरे दिन प्रातः काल उठ कर उन्हें फिर दुहराया जाय। इस के लिए इन भाषाओं की छोटी-छोटी कहानियों की पुस्तकें चुननी चाहिए।

कभी-कभी विदेशी भाषा में गिनना भी सिखलाना चाहिए। इस के लिए व्यायाम करते समय छलाँगों या अन्य कामों का गिनना बड़ा उपयोगी है।

यदि माता-पिता या अध्यापक अपने पाठ को केवल शब्दों तक ही परिमित रख कर नन्हें-नन्हें बच्चों की बुद्धियों को व्याकरण-सम्बन्धी टीका-टिप्पणियों के भार के नीचे न दबा देंगे, तो बालक विदेशी शब्दों को बड़ी सुगमता से सीख लेंगे।

पहले-पहल शब्द और केवल शब्द ही निकालना चाहिए। शब्द के आशय को समझ लेना चाहिए, परन्तु इस के अर्थ की व्याकरण-सम्बन्धी पूरी-पूरी व्याख्या आरम्भ में ही न जतलानी चाहिए, क्योंकि व्याकरण से बच्चे उकता जाते हैं। दूसरी भाषाओं के सीखने में स्वभावतः ही जो आनन्द आता है, उसे व्याकरण प्रायः नष्ट कर देता है। यदि बच्चों ने विदेशी भाषा के कुछ छन्द अर्थ-ज्ञान के बिना ही कण्ठस्थ कर लिए हों, तो बड़े होने पर परिपक्व अवस्था में वाक्यों की रचना के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान लाभ करने के उपरान्त वे बड़े प्रसन्न होंगे। व्याकरण का पाठ जो अन्यथा बड़ा दूभर प्रतीत होता था, अब उन्हें बड़ा मनोरञ्जक लगने लगेगा। पीछे से, अपनी मातृ-भाषा में पढ़ना-लिखना भली भाँति सीख लेने के बहुत समय पश्चात् बच्चों को स्कूल में उन्हीं विदेशी काव्यों को, जो उन्होंने बाल्यावस्था में कण्ठस्थ किए थे, पढ़ना और लिखना सिखलाया जाय, बच्चे अब इन विदेशी भाषाओं को उस अवस्था की अपेक्षा जब कि उन्हें इन भाषाओं का पहले कुछ भी ज्ञान न होता, अधिक उत्साह और उत्सुकता से पढ़ेंगे।

अब संस्कृत और लैटिन प्रभृति अप्रचलित पुरानी भाषाओं के विषय में सुनिए। संस्कृत को अब तक पुराने ढंग से पढ़ाया जाता है, जिस में बालक को पहले ही व्याकरण सा शुष्क विषय रटना पड़ता है। इस में कुछ रस न आने से

प्राय बालक संस्कृत से विरक्त हो जाता है। एक महाशय ने नये ढंग से बालकों को संस्कृत पढ़ाई थी। वे कहते हैं—"एक ही स्कूली वर्ष में बच्चे संस्कृत बोलने और लिखने में इतने निपुण हो गये थे जितने कि चार वर्ष की पढ़ाई के बाद चतुर्थ कक्षा के छात्र थे। प्रति सप्ताह लड़कों को संस्कृत गद्य और पद्य की कुछ पङ्क्तियाँ कण्ठस्थ कराई जायँ। पहले पहल इस कार्य के लिए हितोपदेश की तरह की सरल कहानियाँ, फिर प्रसिद्ध मनुष्यों के भाषण और अच्छे लेखकों के वचन चुनने चाहिएँ। ये सब बहुत सरल होने चाहिएँ। छात्रों को ये प्रबंध पहले उन की मातृ भाषा में मुख से बोल कर लिखा दिए जाते थे, फिर उन का संस्कृत में अनुवाद कराया जाता था। उन के अनुवाद ठीक कर दिए जाते थे और उन की अशुद्धियों पर खूब वाद-प्रतिवाद होता था। जब तक सारा वचन पूर्णतः शुद्ध न हो जाय, उसे कई बार नक़ल कराया जाता था, आरम्भ में यह विधि कई लड़कों को बड़ी कठिन प्रतीत हुई। परन्तु ज्यों-ज्यों नये निबंध पढ़ाए और सिखलाए जाते थे, त्यों-त्यों काम सरल होता जाता था। पुराने वाक्यों की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती थी। जो वाक्य इस प्रकार कण्ठस्थ हो जाते थे, उन के संबंध में सब व्याकरण-संबंधी नियम स्पष्ट कर दिए जाते थे। स्कूली वर्ष की समाप्ति पर लड़कों को कोई चालीस संस्कृत कहानियां कण्ठस्थ थीं और वे उन्हें पूर्णतया जानते थे।

इस प्रकार कई वाक्यों पर उन का पूर्ण अधिकार हो गया था और उस भाषा से काम लेने में उन्हें असाधारण निपुणता प्राप्त हो गई थी। इतना उत्तम परिणाम इतने थोड़े समय में स्कूल में इस से पूर्व कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

"पुराने ढंग से पढ़े हुए अच्छे-अच्छे छात्र भी केवल नियम बता कर उस का अनुकरण ही कर सकते थे। परन्तु ये लड़के नियम का विचार भी मन में न ला कर शुद्ध वाक्य बना लेते थे; और जो जो उदाहरण उन के कण्ठस्थ थे, उन्हीं से व्याकरण के नियम निकाल लेते थे। भाषाएँ पढ़ाने वाले अध्यापक को आरम्भ में बहुत ही निश्चित होना चाहिए। उस के कार्य की गति चाहे मंद हो, पर कष्ट सहन कर के भी कार्य सब प्रकार से नितान्त शुद्ध होना चाहिए। कण्ठस्थ कराने के लिए उसे अत्युत्तम वाक्य चुनने चाहिएँ। उसे स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण पर बहुत बल देना चाहिए और व्याकरण तथा रचना-सम्बन्धी सब शंकाएँ दूर कर देनी चाहिएँ। लड़कों को बहुत-बहुत पढ़ा कर जल्दी करने या घर पर काम दे कर बोझ लाद देने की कोई आवश्यकता नहीं। इस के विपरीत अध्यापक को चाहिए कि जो वाक्य बच्चों को कण्ठस्थ कराने हों, उन की कठिनाइयों को समझा कर उन के स्मरण करने के परिश्रम को हलका कर दे। इस से छात्रों को वाक्यों को पढ़ने और अध्यापक के उच्चारण का अनुकरण करते हुए उन्हें दुहराने के

लिए पर्याप्त समय मिल जायगा। भाषा के सीखने में बच्चों को क्रमशः जो सुगमता होती जाती है, उस से उन का चित्तोत्साह बराबर बना रहता है और वे साहित्य को शीघ्र ही पढ़ने लगते हैं।"

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि अपनी भाषा के अतिरिक्त कम से कम एक और जीवित भाषा पर अधिकार होना उच्च शिक्षा के लिए अनिवार्य है। इस से न केवल हमारा मन ही विशाल हो जाता है, प्रत्युत हमारी सहानुभूति भी विस्तृत होती है; क्योंकि इस के द्वारा हम जीवन के अन्य उद्देश्यों, विदेशी साहित्य के उत्तम गुणों और दूसरे राष्ट्रों की सफलताओं का सम्मान करना सीख जाते हैं।

धन का उपयोग

बच्चों को रुपये के उपयोग से परिचित कराने की सब से उत्तम रीति यह है कि उन को छोटे परिमाण पर उसी अवस्था में रख दिया जाय जिस में बड़े होकर आजीविका कमाने की चिन्ताओं का सामना करते समय उन्हें रहना होगा। उन पर थोड़ा सा जीवन का भार डालो। वह इस प्रकार कि उन्हें जीवन की आवश्यकताओं के लिए, जैसे कि—जूतों, मोज़ों, स्कूल की पुस्तकों, गाड़ी के भाड़े और ऐसी अन्य वस्तुओं के लिए, जिन की कभी-कभी आवश्यकता होती है, कुछ नियत रुपया दे दो। रुपया देते समय इस बात का विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस से उन की सब आवश्यकताएँ भली भाँति पूरी हो सकें; और यदि वे मितव्ययी हों तो उस में से कुछ बचा भी सकें। इस बचत को स्वेच्छानुसार व्यय करने का पूर्ण अधिकार उन्हें रहना चाहिए। इस नियत रुपये की संख्या अनियम से नहीं बढ़ानी चाहिए। और साथ ही यह भी वचन ले लेना चाहिए कि वे इस का पूरा-पूरा लेखा रखा करेंगे; और कभी-कभी बाकी भी निकाला करेंगे।

बच्चे अपनी बचत का चाहे मूर्खता से अपव्यय ही क्यों न करें, तो भी उस में हस्तक्षेप करना बुद्धिमत्ता से दूर है। हाँ,

यदि उन्हें यह समझाया जाय कि अनावश्यक बातों में रुपया नष्ट करना मूर्खता है, तो कोई बुरी बात नहीं। जब तक इस के विरुद्ध कोई बहुत ही बड़ा कारण न हो, उन के हिसाब-किताब की पड़ताल कभी न करनी चाहिए। इस का उद्देश्य यही है कि बच्चे आय और व्यय रूपी दो पलड़ों को बराबर रखना सीख जायँ।

ब्रह्मचर्य

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ गीता ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ॥ अथर्ववेद ॥

माता-पिता झूठी लज्जा से बालकों को जननेन्द्रियों के यथार्थ उपयोग के विषय में कुछ नहीं बताते। इस का परिणाम यह होता है कि बालक दूसरे अयोग्य लोगों से बुरी और हानिकारक बातें सीख लेते हैं। जननेन्द्रियों के उचित उपयोग का ज्ञान न होने से वे अनेक प्रकार के भयंकर रोगों में फँस जाते हैं। इस लिए माता-पिता और अध्यापक को चाहिए कि सात-आठ वर्ष की आयु में ही बच्चों को इस विषय का उचित ज्ञान करा दें।

गर्भ एवं सन्तानोत्पत्ति के विषय में वनस्पति-विद्या के अनुसार फूलों, फलों और बीजों के बनने तथा पशु-पक्षियों में सन्तानोत्पत्ति की क्रिया दिखा कर बड़े गम्भीरभाव से यह समझाओ कि फलों, बीजों, पशुओं और पक्षियों, सब के माता-पिता होते हैं। माता और पिता के प्रेम एवं संयोग से ही सन्तान का जन्म होता है; तुम्हें भी माता ने नौ मास तक गर्भ में रखा है। इन बातों को समझाते समय आप में लज्जा एवं

संकोच का भाव बिलकुल न होना चाहिए। थोड़े से स्पष्ट एवं सारगर्भित शब्दों में स्त्री और पुरुष की जननेन्द्रियों का यथार्थ उपयोग उन्हें समझा दो। बच्चे आप की बात को ऐसे समझें जैसे उन का कोई परम मित्र उन के हित के लिए उन्हें कोई परम उपयोगी रहस्य बता रहा है।

वीर्य के विषय में उन्हें भली भाँति विश्वास करा दो कि वीर्य ही जीवन है; वीर्यहीन मनुष्य रोगों से दुःख भोगता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। भीष्म पितामह, हनुमान्, शङ्कर और दयानन्द प्रभृति बाल ब्रह्मचारियों के अलौकिक कार्यकलाप का वर्णन कर के बच्चों में ब्रह्मचर्य-पालन की रुचि बढ़ाओ। मनुस्मृति, सत्यार्थ प्रकाश और वैद्यक ग्रन्थों में ब्रह्मचारी के लिए जो-जो बातें लिखी हैं, वे उन्हें बताओ, और उन पर चलने में उन्हें सहायता दो। बालकों का बिछौना बहुत गरम न हो, सोने के पहले वे दूध या चाय न पीएँ, रात को खट्टी पकौड़ियाँ न खायँ, तेल, मिर्च और कब्ज़ करने वाली वस्तुओं का सेवन न करें, दिन में न सोएँ, मूतने के समय के सिवा मूत्रेन्द्रिय को कभी हाथ न लगाएँ, एक खाट पर कभी किसी के साथ न लेटें, सूर्योदय के पहले उठें, गंदे उपन्यास न पढ़ें और अश्लील गीत न सुनें।

वैद्यक शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य भगवान् धन्वन्तरि का कहना है कि "मरण, रोग और बुढ़ापे का नाश करने वाला, अमृत रूप, और बहुत विशेष उपचार, मेरे विचार से ब्रह्मचर्य

है। जो शान्ति, सुन्दरता, स्मृति, ज्ञान, स्वास्थ्य और उत्तम सन्तति चाहता है, वह इस संसार में सर्वोत्तम धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करे।"

'वीर्य ही ब्रह्म, जीवन और सृष्टि-कर्ता है। देवता लोगों ने ब्रह्मचर्य रूपी तपस्या से मृत्यु को पराजय किया और इन्द्र इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवगण के अधिपति हुए। तप यथार्थ तप नहीं है, किन्तु ब्रह्मचर्य ही उत्तम तपस्या है। जो अमोघ ब्रह्मचारी हैं वे मनुष्य नहीं, देवता हैं। एक ओर चारों वेदों का ज्ञान और दूसरी ओर केवल ब्रह्मचर्य—दोनों समान हैं। जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, उस के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।'

ब्रह्मचर्य का उपदेश देते हुए ऐसे निःसंकोच भाव से बातें कीजिए, जैसे मेडीकल कालेज में कोई प्रोफेसर शरीर-शास्त्र पर व्याख्यान देते हुए करता है। इस में निर्लज्जता समझना महामूर्खता है। देखिए भगवान् कृष्णचन्द्र कैसे स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से कहते हैं—

> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ गीता १४,४

बच्चे को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिस से उस का विवाह-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा हो जाय, वह विवाह को

विषय-भोग की सामग्री नहीं, वरन् उत्तम सन्तति उत्पन्न करने का, देश, जाति तथा धर्म की सेवा का, और वंश वृद्धि का एक साधन समझे विवाह हो जाने पर भी वह ऋतुगामी रहे और विषयासक्त न हो।

माता-पिता अपनी सन्तान के अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र होने चाहिएँ, जिस से वह अतीव भीतरी बातों में सदा उन से, केवल उन से ही, परामर्श लेती रहे।

नैतिक व्यायाम

जिस प्रकार प्रतिदिन के शारीरिक व्यायाम से भारी लाभ होता है, उसी प्रकार प्रतिदिन का नैतिक व्यायाम भी बड़ा लाभदायक है। नैतिक व्यायाम की विधि यह है कि प्रातः और सायं नैतिक बातों का चिन्तन किया जाय। तीन वर्ष वरन् इस से भी कम आयु के बच्चे ऐसी छोटी सी नैतिक कविता बड़ी सुगमता से कह सकते हैं—

सब से करूँ प्रेम-व्यवहार।
यही निरन्तर मेरा होवे सच्चा शुद्ध विचार॥
सब से करूँ प्रेम-व्यवहार।

इस के दो एक वर्ष बाद बालक सवेरे ऐसी कविता और सायंकाल ऐसी ही दूसरी कविता कह सकता है, जैसे—

पथ-दर्शक हो प्रेम हमारा।
प्रेम-पन्थ पर मिले सहारा॥
जहाँ कहीं हम नितप्रति जावें।
प्रेम सदा शुभ कर्म दिखावें॥

बालक शीघ्र ही इन कविताओं के अर्थों को समझ लेंगे, परन्तु उन की आयु और अनुभव के अनुसार इन के ब्योरे में भेद होगा।

बाहर घूमने जाते समय अथवा भोजन के समय वे इस प्रकार के कुछ शब्द गा सकते हैं—

एक साथ हम खाते हों (जाते हों)।
आपस में बतलाते हों ॥
अच्छे बुरे समय के साथी।
होवें हम दुख-सुख के भागी ॥
आपस में सब प्रेम करें।

ज्यों-ज्यों बालक बड़े होते जायँ, अधिक और विभिन्न प्रकार की उपदेशात्मक कविताएँ चुनी जा सकती हैं। छः वर्ष की आयु तक वे कोई बीस नीति-वचन सीख सकते हैं।

पाँचवाँ खण्ड

आत्म-निर्देश

आत्म-निर्देश अर्थात् अपनी बुद्धि के भरोसे पर काम करने का काल—कोई इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर आगे तक।

आत्म-निर्देश अर्थात् अपनी बुद्धि के भरोसे पर काम करने का काल—कोई इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर आगे तक।

इक्कीस वर्ष की आयु में बालक पुरुष अथवा स्त्री बन जाता है। प्रशंसा की अवस्था का स्थान अब आत्म-निर्देश की अवस्था ले लेती है, क्योंकि ज्ञान एवं तर्क इतने उन्नत हो चुके होते हैं कि अपरमित रूप से दूसरों के भरोसे रहना नैतिक दृष्टि से आपत्ति-जनक हो जाता है। परन्तु इस से यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि स्वभाव, आज्ञापालन और प्रशंसा को अलग कर दिया गया है, और तरुण हो जाने पर फिर कुछ और सीखने की आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञान के सदृश उन्नति भी जीवन के किसी विशेष काल की ही बात नहीं।

इसलिए अच्छे स्वभावों का बनाना बराबर जारी रहना चाहिए। आज्ञापालन अब तर्क और अन्तरात्मा के आदेश का पालन हो जाता है। प्रशंसा का महत्त्व भी वैसा ही बना रहता है। इस में अब वे सब बातें आ जाती हैं जिन की जीवित एवं मृत सभी महात्माओं ने प्रशंसा की है। जीवन अब तक भी सरल, उत्साहपूर्ण, आनन्दमय, नियमबद्ध, सच्चा और उपयोगी होना चाहिए। आयु के बढ़ने के साथ-साथ लक्ष्य यह होना

चाहिए कि पुण्यमय जीवन की विशालता, गम्भीरता एवं सूक्ष्मता को भली भाँति समझा और ग्रहण किया जाय।

जो बातें थोड़ी थोड़ी कर के सीखी हैं, उन से अब एक बड़े परिमाण पर काम लेने का समय आता है। पुण्यमय जीवन की सिद्धि के लिए भक्ति और ज्ञानपूर्वक नागरिकता, व्यक्ति, परिवार, व्यवसाय और मित्रता के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। यथार्थ औद्योगिक, राजनीतिक और व्यावहारिक आचरण की उन्नति पर ध्यान दिया जाय; और नैतिक, शारीरिक और शिक्षा-सम्बन्धी कल्याण, विज्ञान, कला-कौशल और अन्ताराष्ट्रीय शान्ति और मित्रता की वृद्धि के लिए यत्न किया जाय। भारत में इस समय जितना अनिष्ट और कटुता जात-पाँत के कारण है, जितनी हानि इस देश को वर्णभेद ने पहुँचाई है, उतनी दूसरी किसी चीज़ ने नहीं। इस लिए इस जन्मना ऊँच-नीचमूलक जात-पाँत को मिटाने पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है। इस को नष्ट किए बिना यहाँ के लोगों में प्रेम, भ्रातृभाव एवं शान्ति नहीं हो सकती। बच्चों में आरम्भ से ही जाति-भेद के विरुद्ध भाव उत्पन्न करने का यत्न होना चाहिए।

ऐसा नैतिक कार्यक्रम बना लेने पर आवश्यक अभ्यास के अभाव से आचार के ढीले हो जाने का बहुत कम डर रह जाता है।

उपदेश और अभ्यास

इक्कीस वर्ष की आयु में मनुष्य यथार्थ रूप से जीवन के आरम्भ में पहुँचता है, न कि उस के अन्त में। इस लिए तरुण बालकों को जिन की आयु इस के लगभग है, अभी बहुत कुछ सीखना है।

(क) उपर्युक्त रीति से सधे हुए युवक इस काल में भी अपने कान और आँखें खुली रखेंगे। वे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक स्थिति से विनीत बन कर शिक्षा लेंगे। उन्नति के लिए उत्सुक होने के कारण, वे अपनी परिस्थिति में सर्वोत्तम चरित्रों को अपने लिए आदर्श बनावेंगे। विफल-मनोरथ न होने का निश्चय करने के कारण, वे दूसरों की विफलताओं से सचेत हो जायँगे। अपने उत्तरदायित्व और व्यक्तित्व को समझने के कारण वे अपनी निर्णय-शक्ति एवं विकल्प-शक्ति को सोत्साह काम में लावेंगे। वे अपने माता-पिता सेपरामर्श लेना भी नहीं छोड़ेंगे; क्योंकि जीवन गड्ढों से भरा पड़ा है, जिन में असावधान एवं सरल-हृदय लोग सुगमता से गिर पड़ते हैं।

(ख) विचार-जगत् अवश्य ही हमारी जीवन-परिस्थिति की अपेक्षा अपरिमेय रूप से बड़ा है, क्योंकि हमारी पीढ़ी एक

लंबी परम्परा की अन्तिम, और भविष्य में होने वाली असंख्य पीढ़ियों की प्रथम पीढ़ी है। इस विशाल विचार-जगत् में प्रवेश करने का साधन "पढ़ना" है। परन्तु जब हम उस विपुल ग्रन्थ-राशि का ध्यान करते हैं, जो पढ़ने के लिए पड़ी है, और यह सोचते हैं कि कौन ग्रन्थ पढ़ने योग्य है और कौन नहीं, तब सिर चकराने लगता है। परन्तु जो श्रेष्ठ एवं उत्तम ग्रन्थ विद्वानों को पसंद हैं, उन्हें पढ़ने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, संसार के बड़े-बड़े धर्मों के पवित्र ग्रन्थ हैं, जैसे कि वेद, वेद-भाष्य, उपनिषद्, दर्शन, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश, धम्मपद, भगवद्-गीता, बायबिल (कुछ भाग), कुरान (कुछ भाग), रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, भर्तृहरि का नीति और वैराग्य शतक, विदुरनीति, अश्वघोष कृत वज्रसूची, चाणक्यनीति, भगवान् बुद्ध का जीवनचरित, वीर नेपोलियन की जीवनी, हमारा समाज इत्यादि। यदि अवस्थाएँ अनुकूल हों तो इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। इन में उत्तमोत्तम अँगरेज़ी पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों को भी स्थान दिया जा सकता है। यदि अँगरेज़ी के निम्नलिखित ग्रन्थों के अनुवाद मिल जायँ तो बहुत अच्छा है—

Plato's *Republic*; Aristotle's *Ethics*; Plutarch's *Lives*; Lucretius's *Epictetus, The Meditations*

of Marcus Aurelius ; Thomas a Kempi's *The Imitation of Christ* ; Dante's *Divine Comedy* ; Montaigne's *Essays* ; More's *Utopia ;* Emerson's *Essays* ; Mazzini's *Essays* ; Thoreau's *Walden* ; Carlyl's *Past and Present* etc. ; Mill's *Liberty,* और *Subjection of Women* ; Ruskin's *Unto This Last* और *Sesame and Lilies* ; Mathew Arnold's *Literature* and *Dogmas,* and *Culture* and *Anarchy* ; Seeley's *Ecce Homs,* and *Natural Religion* ; Maeterlink's *Wisdom and Destiny* and *Justice* ; New man's *Apologia*, Charles Wegner's *The Simple Life* ; Baronèss V. Suttner's *Lay down your Arms* ; Duboi's *The Souls* of *Black Folk ;* Felix Adler's *Life and Destiny ;* Coit's *The Message of Man* ; Dale Carnegie's *How to Win Friends and Influence People* (इस का हिन्दी अनुवाद "लोक व्यवहार" नाम से हो चुका है)।

बङ्गला के अच्छे-अच्छे उपन्यासों और नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हो चुका है। वे भी अच्छे शिक्षाप्रद है। कुछ एक अच्छी हिन्दी पुस्तकों के नाम ये हैं--चरित्र-गठन, टाम काका की कुटिया, आनन्द मठ, महिलामणिमाला, सीताचरित्र, सीतावनवास, प्रतिभा, रामायणी कथा, शान्तिकुटीर,

दुर्गादास, उद्बोधिनी। अच्छे मनुष्य के लिए मनुष्य-समाज के सर्वश्रेष्ठ नेताओं के गम्भीर विचारों को सीखने से बढ़ कर और कोई बात सन्तोषदायक नहीं हो सकती।

परन्तु केवल पुस्तक पढ़ना ही पर्याप्त नहीं। जिस प्रकार गायक या चित्रकार, या. चीर-फाड़ करने वाले शस्त्र-वैद्य बनने के लिए संगीत, चित्रकारी और शस्त्र-चिकित्सा (सर्जरी) की केवल पुस्तकें पढ़ लेना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् इन विद्याओं का व्यावहारिक रूप से अभ्यास भी करना पड़ता है, वैसे ही उत्तम आचरण के लिए भी उपदेशों पर आचरण करने की आवश्यकता है। कुम्हार को एक बार बर्तन बनाते देख कर, बाज़ीगर को खेल करते देख कर, बढ़ई को सन्दूक बनाते देख कर कोई मनुष्य उन के समान वही काम नहीं कर सकता। उन के सदृश बर्तन बनाने, खेल करने और सन्दूक बनाने में समर्थ होने के लिए देर तक बहुत परिश्रम के साथ उन का शिष्य बनने और अनुकरण करने की आवश्यकता होती है। इस में कठिनाई भी होती है। पर आचरण के विषय में लोग समझते हैं कि पुस्तकों के पाठमात्र से ही चरित्र गठित हो जायगा। यह भूल नहीं तो और क्या है? इस लिए उच्च जीवन और उत्तम आचरणों को भी अन्य उत्तम शिल्पों के सदृश निरन्तर अभ्यास और अनुकरण से गम्भीरता पूर्वक ग्रहण करना चाहिए, तभी सफलता हो सकती है। जब तक आपके अटल रूप से दयालु, प्रसन्न-चित्त और सुसंस्कृत

होने में कुछ भी सन्देह हो, तब तक बराबर अभ्यास करते रहो। समय-पालक, सच्चे, शूर, उद्यमी, लोक-हितैषी, देश-भक्त, उदार एवं विचारशील बने रहने पर तब तक निरन्तर बल देते रहो, जब तक बल देना अनावश्यक न हो जाय।

सारांश यह कि नैतिक शिक्षा के लिए विचार, अनुभव द्वारा सीखना, पुस्तकें पढ़ना, और सोच-समझ कर अनुष्ठान करना, ये सब बातें आवश्यक हैं। आदर्श जीवन कर्म का विषय है, मस्तिष्क को उच्च उपदेशों से ठूँस कर भर लेने का नहीं।

स्वदेश-भक्ति

जिस भूमि के फल, फल और अन्न खा कर हमारा और हमारे बन्धु बान्धवों का शरीर बढा है, जो हम सब का माता के समान पालन पोषण करती है, उस जननी जन्म भूमि का हम पर भारी ऋण है। देशप्रेम के भाव को जागृत करने के लिए बच्चों को स्वदेश और विदेश के उन महात्माओं और देश भक्तों के उज्ज्वल कार्यकलाप का वर्णन कहानी रूप में सुनाना चाहिए, जिन्होंने देश के उद्धार एवं कल्याण के लिए अपने जीवनों की आहुति दी हो। प्रताप, शिवाजी, वीर वैरागी, गोविन्द सिंह, झाँसी की रानी और गाँन्धी की देश सेवा का वृत्तान्त सुना कर बच्चों में देश सेवा की प्रवृति को जगाओ। इटली के उद्धारक मेजिनी और गेरी बाल्डी, और जापान की उस विधवा माता की चर्चा करके, जिस ने रूस जापान युद्ध के दिनों में इस लिए आत्म हत्या कर ली थी कि उस का एकलौता पुत्र भी देश सेवा के लिए युद्ध में जा सके, बच्चों में देश हित के लिए त्याग और आत्म बलिदान का भाव उत्पन्न करो। हमारे पूज्य ऋषि और महर्षि हमारे कल्याण के लिए जो अमूल्य ज्ञान-राशि छोड गये ह, और राम तथा कृष्ण प्रभृति महापुरुष अपने पवित्र चरित्रों से हमारे सामने मानव-जीवन का जो उच्च और स्वर्गीय आदर्श स्थापित कर

गये हैं, उस की आलोचना कर के बालकों के हृदय में उन के प्रति श्रद्धा तथा पूज्य बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए। प्रत्येक बालक देश हित और समाज-कल्याण के लिए आलस्य छोड़ कर परिश्रम-पूर्वक काम करने को अपना परम कर्तव्य समझने लगे। परन्तु इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि स्वदेश-भक्ति का उपदेश देते हुए दूसरे राष्ट्रों और जातियों के प्रति द्वेष एवं घृणा का भाव न उत्पन्न किया जाय। विश्व कल्याण में ही स्वदेश-कल्याण समझा जाय।

धर्म-शिक्षा

धर्म का ज्ञान प्रत्येक नर-नारी के लिए परम आवश्यक है। धर्मज्ञान-शून्य व्यक्ति का जीवन सुखमय और उस का चरित्र दृढ़ कभी नहीं हो सकता। पर कुछ एक सिद्धान्तों के रट लेने और मत-मतान्तरों के फंदों में फँस कर आपस में लड़ने-झगड़ने का नाम धर्म नहीं। सच्चा धर्म वही है जिस के धारण करने से मनुष्य का कल्याण हो; और उस के सिखाने की रीति अपने से भिन्न मत रखने वालों के प्रति घृणा तथा द्वेष का भाव उत्पन्न करना नहीं।

धर्म-शिक्षा की सर्वोत्तम रीति यह है कि बालकों को विविध मतों और विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों को पूजा पाठ करते देखने दो, और जब वे ईश्वर-प्रार्थना, उपदेश, भजन कीर्तन, प्रसाद, आशीष, और धन्यवाद आदि के आशय के विषय में पूछें, तब उन के सामने पहले उन विचारों की व्याख्या करो जिन से प्रेरित होकर अनेक लोग ऐसी क्रियाएँ और चित्र विचित्र अनुष्ठान करते हैं। जब बच्चों की रुचि धार्मिक प्रश्नों की ओर जाग उठे, तब उन्हें दूसरे मतों और सम्प्रदायों का भी हाल बता दो। गुप्त मतों की क्रियाएँ और विदेशी धर्मों की बातें चित्रों द्वारा समझाई जा सकती हैं। बालकों को विविध धर्मों का ज्ञान कराते समय इस बात का ध्यान रहना

चाहिए कि उन के सामने अपनी बनी बनाई सम्मति न रखी जाय, वरन् बच्चों को अपने आप प्रश्न पर विचार करने दिया जाय। उन्हें उतनी ही सहायता देनी चाहिए जिस से उन के लिए विविध समस्याओं को सुलझाना सुगम हो जाय। परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रहे कि सोचें वे आप ही।

शीघ्र ही बालक प्रश्न करेंगे—क्या परमेश्वर है? स्वभावतः ही वे परमात्मा को एक अदृश्य व्यक्ति समझते हैं जो, पुराणों में दिए वर्णन के अनुसार, स्वर्ग लोक में ऊपर रहता है। बच्चा यह भी पूछता है कि क्या कोई ऐसी अदृश्य सत्ता है जो उसे देखा करती है? क्या जिस समय वह अकेला होता है, उस समय कोई उस की क्रियाओं को देखता है? इस समय नारायण का—विश्व ब्रह्माण्ड में व्यापक परम सत्ता का—जो शेष शायी स्वरूप अशिक्षित लोग समझ रहे हैं, उस से उच्चतर कल्पना की नींव रखने में कठिनाई प्रतीत होती है।

जब बालक पूछे कि "क्या परमेश्वर है?" तो इस का उत्तर दीजिए कि "तुम परमेश्वर किसे कहते हो?" इस प्रकार आप बच्चे के मुख से बालोचित विचारों का वर्णन करा सकेंगे। अब आप को अवसर मिलेगा कि झूठे विचारों को छुड़ा कर सच्चे विचारों का प्रतिपादन कर सकें।

तीन वर्ष का एक बालक यह सुन कर बड़ा चकित हुआ कि ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ें, वायु पतली होती जाती है और

अन्त को आकाश वायु-शून्य रह जाता है; कोई प्राणी वहाँ साँस नहीं ले सकता; और यदि हम और ऊपर ले जाया जाय तो हम एकदम मर जायँगे। उस की चिन्ता का कारण उस समय मालूम हुआ जब वह अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ घबरा कर बोला—"परन्तु तब हमारा प्यारा परमेश्वर अवश्य मर जायगा।" उस के पिता ने उत्तर दिया—"नहीं बेटा, परमेश्वर नहीं मर सकता; वह हमारी तरह शरीरधारी नहीं। उस के न फेफड़े हैं, न उसे जीवित रहने के लिए श्वास लेने की आवश्यकता है; उस का जीना हमारी भाँति शरीर के आश्रित नहीं; वह मेरी तुम्हारी भांति कोई व्यक्ति विशेष नहीं; यदि वह व्यक्ति होता तो परमात्मा न हो सकता; वह मनुष्य नहीं, वह परमात्मा है।" बच्चे को उस से बहुत शान्ति मिली और वह इस के द्वारा सत्य के कुछ अधिक समीप आ पहुँचा।

ऐसी व्याख्या उन्हें उन के प्रश्नों के उत्तर में ही समझानी चाहिए, क्यों कि केवल ऐसे अवसर पर ही इस का प्रभाव पड़ता है। धर्म-शिक्षा का अर्थ यह होना चाहिए कि बच्चे के मन को सोचने और जिन प्रश्नों को वह स्वयं पूछता है, उन्हें सुलझाने में लगा दिया जाय। वह प्रश्न करेगा—"परमात्मा हम से क्या कराना चाहता है?" बड़ी आयु के लोगों की भाषा में इस प्रश्न का अर्थ यह है कि मनुष्य-जीवन में परमात्मा को मानने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह दिया जा

सकता है कि "परमात्मा चाहता है कि हम अच्छे बनें।" दूसरे शब्दों में इस का अर्थ होगा कि "परमात्मा वह है जो पुण्य के लिए प्रोत्साहित करता है।"

हम यहाँ अब और लम्बी चौड़ी व्याख्या नहीं करना चाहते, क्योंकि प्रत्येक बालक के लिए, उस की प्रकृति और अवस्था के अनुसार, इस अतीव आवश्यक विषय पर भिन्न-भिन्न रीतियाँ बर्तनी पड़ती हैं। फिर भी जिस बच्चे की शिक्षा ऊपर लिखी शैली पर हुई हो, उसे यह समझाना चाहिए कि—

१. परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है,

२. परमात्मा पुण्य का आदि कारण है,

३. परमात्मा कोई व्यक्ति विशेष नहीं, वरन् एक सनातन, अजर और अमर आत्मा है,

४. यद्यपि उस का भौतिक शरीर नहीं, पर वह एक अत्यन्त प्रभावशाली सत्ता है,

५. वह केवल दयालु और न्यायकारी ही नहीं, वह दुष्टों को दण्ड भी देता है, और

६. हम चाहे कितने ही एकान्त में क्यों न हों परमात्मा सदा हमारे पास रहता है। हमारे सब कर्मों का फल अवश्य होता है, और किसी स्थान एवं किसी अवस्था में भी हम कर्म-फल से नहीं बच सकते।

गम्भीर दार्शनिक वाद-प्रतिवाद में पड़े बिना ही बच्चों से उपर्युक्त परिणाम निकलवाए और आसानी से उन्हें समझाए जा सकते हैं। साथ ही इन विचारों के उपसिद्धान्त भी दर्शाये जा सकते हैं। जो बच्चे इन संस्कारों में पलेंगे, वे जहाँ एक ओर मूढ विश्वासी नहीं बनेंगे, वहाँ साथ ही उन में विनय का भाव भी आ जायगा। वे स्वभावतः ही ईश्वर-प्रार्थना और उपासना का सच्चा प्रयोजन समझ लेंगे। वे ऋतु-परिवर्तन अथवा ईश्वरीय इच्छा को बदल देने के लिए नहीं प्रत्युत आत्मिक बल की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करेंगे। उन की प्रार्थना का उद्देश्य आत्म-निग्रह की सिद्धि होगा। उस में वे आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने कर्मों की खूब समालोचना करेंगे। इस का परिणाम आत्म शिक्षा होगा और वे उचित कार्यों के करने के लिए कटिबद्ध होंगे।

बालकों के सामने दूसरे धर्मों को अशुद्ध रूप में प्रकट कर के उन पर दोष मत लगाओ। हाँ बालक की स्वतंत्र विचार-शक्ति को शिक्षित करने के लिए विभिन्न धर्मों की आपस में तुलना कर के दिखाओ। यदि आप का धर्म दूसरों से श्रेष्ठ होगा, तो बालक अपने आप उसे श्रेष्ठ समझने लगेगा।

शुद्ध ईश्वर-कल्पना जीवन में हमें अधिक सामर्थ्य प्रदान करती है। इस से हम में स्वतंत्रता और उत्साह आता है। अशुद्ध ईश्वर-कल्पना से हम मूढविश्वासी और परतंत्र बन

जाते हैं। कहते हैं, चीन और जापान के युद्ध में एक बड़े चीनी जहाज का नौ-सेनापति, जिस समय उस का कर्तव्य जहाज के उच्च स्थान पर खड़े हो कर शत्रु को देखना, और अपनी सेना का नेतृत्व करना था, चीनियों की देव-प्रतिमा, 'जोस' के सामने सहायतार्थ प्रार्थना करने के लिए अपने कमरे में चला गया। जब काम करने का समय हो, उस समय ईश्वर-प्रार्थना करने से कुछ लाभ नहीं। जिस मनुष्य का यह विश्वास है कि परमात्मा मेरी प्रार्थना पर प्रकृति के नियमों को बदल देगा, वह दुख भोगने का अधिकारी है; क्योंकि सब से उत्तम और सच्ची प्रार्थना यही है कि मनुष्य उचित समय पर उचित कार्य पर ध्यान दे। अर्थात् कर्तव्य पालन ही सच्ची एवं सर्वोत्तम ईश्वर-प्रार्थना है।

अपने बच्चों को न तो नास्तिक और न धर्मान्ध भोन्दू ही बनाओ। उन्हें जीवन के तथ्य सिखलाओ, सत्याचरण का मार्ग दिखलाओ; उन्हें विचारशील और गुण-दोष-विवेचक बना दो; फिर उन के शेष धर्म-विकास को उन के अपने निर्णय के भरोसे छोड़ा जा सकता है।

जन्म पर शिक्षा की विजय

पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाले हिन्दू प्रायः कहा करते हैं कि ब्राह्मण या भंगी के घर में जन्म लेना जीव के पूर्वजन्म के अच्छे और बुरे कर्मों पर निर्भर है। उन की यह भी धारणा है कि मनुष्य विद्वान् या मूर्ख और पुण्यात्मा या दुरात्मा भी अपने पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार ही बनता है। उन की इस धारणा में सत्य और असत्य दोनों मिले हैं। वैज्ञानिकों का भी यह मत है कि जो लक्षण माता-पिता में प्रधान रूप से पाये जाते हैं वही उन की सन्तान में प्रायः उसी अनुपात में प्रकट हो जाते हैं। ब्राह्मण से अभिप्राय यदि सदाचारी परोपकारी विद्वान् से और भंगी का अर्थ यदि चरित्रहीन, दुष्ट, मूर्ख हो तब तो हम कह सकते हैं कि उत्तम कर्मों के प्रताप से जीव ब्राह्मण के घर और दुष्कर्मों के कारण भंगी के घर जन्म ग्रहण करता है। पर जब हम अनेक ब्राह्मण नामधारी लोगों को मूर्ख, दुष्ट और भ्रष्टाचारी और बहुतेरे भंगी कहलाने वालों को सदाचारी, परोपकारी पाते हैं, तो उनकी धारणा असत्य ठहरती है।

वंश-परम्परा के नियम मानवी भाग्य के विषय हैं। आप चाहे कितना भी चाहें, वे नियति के समान ही अपरिवर्तनीय

हैं। शिक्षा-शास्त्रियों का यह प्रसिद्ध तर्क है कि कुलसम्बन्धी गुणाधिकार और अवस्था ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनका व्यक्तिगत स्वभाव के गढ़ने में बहुत बड़ा हाथ रहता है। श्री बर्टरण्ड रसल ने इस विवाद की संक्षेप में इस प्रकार कल्पना की है—प्रौढ़ पौध या प्राणीका विशेष गुण गर्भाधान के काल से आरम्भ हो कर आगे तक प्राणी और परिस्थिति की भी पारस्परिक क्रिया का ही परिणाम होता है।" प्रौढ़ मनुष्य के चरित्र-निर्माण में वहां परम्परागत गुण और परिस्थिति में से किस का कितना हाथ रहता है, इस विषय में विद्वानों का एकमत नहीं। दादियां प्रायः कहा करती हैं कि नवजात शिशु की नाक तो उस के पिता की नाक से मिलती है, पर उस के केश और आंखें मेरे समान हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि दो बहुत ही छोटे कोशाणु—एक नर का और दूसरा मादा का—जो संयुक्त होकर एक गर्भवान कोशाणु बनाते हैं, जो दादी के शिशु का आरम्भ होता है—किसी अज्ञात दूर के पूर्वज की छोटी से छोटी बातों को भी फिर से उत्पन्न कर देते हैं।

हम सूक्ष्म रूप में उन शारीरिक और मानसिक विशेष गुणों को फिर से उत्पन्न करते हैं जो हमारे माता-पिता या किसी दूर के पूर्वज में वर्तमान हैं इसलिए जब हम "पुराने कुन्दे का टुकड़ा" कहते हैं या किसी निष्पाप शिशु को ब्राह्मण

का या बनिये का बालक बताते हैं तो हम केवल वंश-परम्परा के नियमों को ही फिर से कहते हैं।

जो बात बूढ़ी दादी कहती है उसी को ग्रगरजोहन्न मण्डल नाम के विज्ञानी ने प्रतिष्ठित किया था। यह विज्ञानी प्रकृति की भूल-भुलैया के भीतर पहुँच गया था और उसने हमारे सामने प्रकृति के छिपा कर रखे हुए रहस्यों को खोल कर रख दिया था।

जीवतत्त्व-शास्त्री जाग उठे और उनमें से जो भी चूहे या खरगोश पाल सकता था उसी ने प्रयोगों को दुबारा करके देखा। एक काले खरगोश का सफेद खरगोश से संयोग कराकर सन्तान उत्पन्न कराइए सब बच्चे काले निकलेंगे। इस लिए 'काला रंग प्रधान और सफेद रंग पीछे हटने वाला है।' अब आगे चलिए काले खरगोशों की दूसरी पीढ़ी का किसी दूसरे खरगोश से समागम कराइये। चार में से कम से कम एक अवश्य तीसरी पीढ़ी में बिलकुल सफेद निकलेगा। 'पीछे हटने वाला रंग' अब प्रबल हो गया है। यह जादू की छड़ी के सदृश है।

धर्म-विश्वासी लोगों के मत से वंश-परम्परा का नियम यही है कि मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता, वह जो कुछ करता है अपने प्रारब्ध के आदेशानुसार ही करता है। शिक्षा और भोजन से किसी को बदला नहीं जा सकता।

ये तो यों ही प्रयोगमात्र हैं। हम जन्म से ही पुण्यात्मा या धर्मात्मा होते हैं। शिक्षा किसी को वदल नहीं सकती। अदृष्ट में जो कुछ है वैसा ही होता है। हम ऐसे प्राणी हैं जो भाग्य-द्वारा हमारे लिए पहले से ही बना रक्खे मार्गों पर चलते हैं। मनुष्य की जो अवस्था है, उससे उस का जन्म किसी प्रगति के लिए नहीं हुआ। प्रगति तो भारी भ्रम है। हम अज्ञानतः उस अवनति के मार्गों पर चल रहे हैं जिस को हम देखते नहीं।

परन्तु धर्मविश्वासी लोग जैसा निराशाजनक चित्र खींचते हैं, जिस प्रकार मनुष्य को नियति के हाथ का खिलौना प्रकट करते हैं, बात वैसी नहीं। मनुष्य अपनी मृत राख के ऊपर—अपने पूर्वकृत कर्मों के ऊपर उठ सकता है और उसे उठ कर उच्चतर एवं श्रेष्ठतर बनना चाहिये। यह बात डाक्टरों, अध्यापकों और भोजन की सहायता से प्राप्त की जा सकती है। स्वास्थ्य रक्षा संबंधी उचित पारिपार्श्विक अवस्था, शारीरिक ट्रेनिंग और शिक्षा वंश-परम्परागत गुणों के गहरे गड़े हुए निशानों को भी बदल सकती हैं। औषध-विज्ञान की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि भौतिक या सामाजिक परिस्थिति वंश-परम्परागत गुण और शारीरिक प्रवणताओं दोनों को प्रबल रूप से बदल कर अच्छा या बुरा बना सकती और बनाती हैं। इस कल्पना के कारण बहुत से लोग

मनुष्य पर मण्डल के 'निर्वाचन' के 'नियमों' का प्रयोग करके मनुष्य जाति को सुधारने की चर्चा करने लगे ह। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध साहित्यिक जार्ज बर्नार्ड शा ने कहा है—

"इस समय योरप में अधिकाश लोग ऐसे ह जिनको जीते रहने का कोई काम नहीं। तब तक कोई सच्ची उन्नति न हो सकेगी जब तक हम समाज के लिए विश्वासपात्र मनुष्य उत्पन्न करने पर सच्चे हृदय से और वैज्ञानिक रीति से नहीं लगते।"

पर कल्पनाकारी लोग व्यक्ति की अभिलाषाओं को भूल जाते ह। जब तक मनुष्य नश्वर है, तब तक वह अमर बनने के लिए सन्तान उत्पन्न करने का यत्न करता रहेगा। यही सब से बडी चट्टान है जिसके साथ कल्पनाकारी लोग सिर पटक कर रह जाते ह। इसीलिए शायद प्रोफेसर हलडेन का "एक्टोजैनिक शिशु" ऐसी सुन्दर कल्पना प्रतीत होती है। किसी ने 'एक्टोजेनिक शिशु' आजतक नहीं देखा, क्योंकि यह एक गर्भधान कोषाणु से उत्पन्न किया गया एक काल्पनिक शिशु है। यह कोषाणु सदा नारी कोषाणु होता है। प्रयोगशाला में प्रकाश और ताप की अनुकूल दशाओं में उस प्राकृतिक क्रिया का अनुकरण करते हुए जो किसी उष्ण रक्त वाले जन्तु के गर्भाशय में होती है। यह शिशु उत्पन्न करने की कल्पना की गई है। ये केवल प्रयोगात्मक जीवतत्व शास्त्री का कौतूहल ह। अब तक इस क्रिया से कोई ऐसा बालक तैयार नहीं किया गया जो छ फुट छ इच का सैनिक योद्धा बन सके।

परिशिष्ट

संसार की सब से चतुर बालिका

हमारे यहाँ गुरु की बड़ी महिमा है। सद्गुरु का मिलना मनुष्य के लिए बड़े सौभाग्य की बात है। सद्गुरु की कृपा से मूढ मनुष्य भी पण्डित बन जाता है। इतना ही नहीं, इस भवसागर को तरने के लिए सद्गुरु ही एक जहाज है। लोग कहते हैं कि बीज का गुण प्रधान रहता है, परन्तु 'सद्-गुरु की सत्संगति' उसे भी बदल सकती है। आगे लिखा वृत्तान्त हमारे इस कथन की सत्यता का प्रमाण है।

अमेरिका का संयुक्त राज्य एक उन्नतिशील देश है। वह बड़े-बड़े विद्वानों, विचारकों और आविष्कारकों की जन्म-भूमि है। वहाँ के विद्या-व्यसनी लोग अपने ज्ञान की उन्नति के लिए नित्य नये-नये प्रयोग किया करते हैं। इसी अमेरिका देश में अध्यापक हेनरी ओलरिच नाम के एक शिक्षा-शास्त्री हैं। आप ने एक छोटी बालिका को ऐसे उत्तम ढंग से शिक्षा दी है कि वह इस समय संसार की सब से चतुर कन्या है। उस बच्ची की शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओं को देख कर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। इतिहास में इतनी छोटी अवस्था की और इस के समान चतुर किसी दूसरी लड़की का पता नहीं चलता।

इस वालिका का नाम वायोला रोजेलिया ओलरिच है। संयुक्त राज्यों के आईओवा राज्य के अन्तर्गत सिटी आवडस मोइन्स में इस का जन्म हुआ था। आठ मास चार दिन का वय होने पर अध्यापक हेनरी ओलरिच और उन की पत्नी ने उसे अपनी धर्मपुत्री बना लिया। उस समय अध्यापक महाशय आईओवा के लेक सिटी नामक नगर में सार्वजनिक स्कूलों के अधिष्ठाता थे। वे आप ही घर पर उसे शिक्षा देते थे।

धर्मपुत्री बनाने का प्रधान कारण

वालिका को धर्म-पुत्री बनाने का प्रधान कारण यह था कि वे व्यावहारिक रूप से, शिक्षा की एक नवीन पद्धति की परीक्षा करना चाहते थे। जितनी शिक्षा-पद्धतियाँ उस समय प्रचलित थीं उन सब से वे इस पद्धति को उत्तम समझते थे। स्थूल रूप से वह पद्धति इस प्रकार है।

बच्चे का चुनाव कैसे किया गया

कोई विशेष बच्चा चुनने का उद्योग नहीं किया गया। इस के विपरीत वे कोई साधारण सा बच्चा चाहते थे। वे केवल शारीरिक स्वास्थ्य को ही महत्त्व देते थे। परन्तु बच्चे के माता-पिता के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी उन्हें बहुत कम ज्ञान था।

वायोला की दिनांकनी (रोजनामचा)

जितनी सावधानी से अध्यापक महाशय वायोला की

दैनिक प्रगति का इतिहास रखते हैं उस से अधिक सावधानी के साथ आज तक कदाचित् किसी दूसरे बालक का इतिहास नहीं रखा गया। इस लिए बालिका के सम्बन्ध में जो बातें आगे लिखी गई हैं, वे यों ही अटकल पच्चू अनुमान से नहीं लिख दी गईं, वरन् वे उतनी ही ठीक हैं जितनी कि कोई नियम पूर्वक सावधानी से लिखी हुई चीज़ हो सकती है।

शारीरिक विशेषता

दत्तक बनाते समय वायोला की शारीरिक दशा बहुत सन्तोषजनक न थी। वह पीले रंग की, गोरी सी, बच्ची थी। उस का मुँह थोड़ा सा टेढ़ा, और मुख मण्डल की दाहिनी ओर बाईं से यथेष्ट अधिक फूली हुई थी। ये दोष शीघ्र ही घट कर लुप्त होने लगे। उस के गालों का रंग गुलाबी और चेहरा सुडौल हो गया। वायोला का वज़न और डील औसत दर्जे का है। अब तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में, उस का तौल ३० पौण्ड और ८ औंस, और कद ३ फुट से कुछ ऊंचा है। दत्तक बनाने के समय, दस मास पहले, उस का तौल १४ पौण्ड ८ आऊँस था। इस समय उस के नेत्र चमकीले, केश सुनहरे, चेहरा सुन्दर और व्यक्तित्व चित्ता-कर्षक हैं।

पहला आचरण

जब अध्यापक महाशय वायोला को पहले-पहल अपने घर

लाए, तब वह एक रोती रहने वाली लड़की थी। अध्यापक महाशय ने उसे शीघ्र ही सादे से खिलौने के साथ अपने आप फर्श पर खेलना सिखाना आरम्भ किया। उसे यह इतना भाया कि वह गोदी में अधिक उठाया जाना पसंद न करती थी। इस प्रकार उस ने बहुत पहले अपने को आप ही बहलाना सीख लिया। यह बात बड़ी ही बहुमूल्य है और बच्चे, बूढ़े सभी को पूरी तरह से आनी चाहिए। इस प्रकार उस के साथ प्रेम का व्यवहार होने और उसे काम में लगाए रखने से उस का रोती रहने का स्वभाव शीघ्र ही कम हो गया और उस की प्रकृति निरन्तर सुशील और आनन्दमयी होती गई।

खान-पान

बायोला को जितना वह चाहे सदा उतना खा लेने दिया जाता रहा है। बड़े भोजनों के बीच के अन्तर में जब भी उसे भूख लगती है वह बराबर खाती रही है। एक वर्ष और छः मास की आयु में उसे अपना जल-पान रखने के लिए एक छोटी सी आलमारी दे दी गई थी। उस में उस के लिए रोटी और अन्य खाद्य पदार्थ रख दिए जाते हैं। जब भोजनों के बीच के अन्तर में वह कुछ खाना चाहती है, तब वह उस का द्वार खोल कर जितना चाहती है उस में से निकाल कर खा लेती है। जब वह खा चुकती है तब सदा ध्यानपूर्वक आलमारी का द्वार बन्द कर के खेलने चली जाती है। यह अभ्यास

स्वास्थ्य-वर्धक क्षुधा उत्पन्न करने के लिए ही लाभदायक नहीं, वरन् इस से सुव्यवस्था की भी अच्छी शिक्षा मिलती है।

सोना

वायोला जब से अध्यापक महाशय के यहाँ आई है, सदा आप ही जाकर अकेली सो जाती है। पहले कुछ मास वह दिन में दो बार सोया करती थी। सुलाने के लिए उसे कभी पालने में डालकर झुलाया, सुलाया, या गोदी में उठा कर घुमाया या थपकाया नहीं गया। बच्चे को बहुत सी निर्विघ्न एवं सुखदायक निद्रा चाहिए। जो बच्चा आप उठ-बैठ और चल फिर नहीं सकता उसे, ज्यों ही वह जागे, उठा लेना चाहिए। उसे सहायता के लिए रोने पर कभी विवश नहीं करना चाहिए। इस प्रकार रोने पर विवश करने से वह शीघ्र ही रोता रहने वाला बच्चा बन जाता है।

स्वास्थ्य की दशा

अचानक जुकाम और खसरा आदि को छोड़ कर बालिका का स्वास्थ्य सदा अच्छा रहा है। जिस दिन से वह अध्यापक महाशय के पास आई है उस दिन से वह निरन्तर तगड़ी होती जा रही है।

उस के साथ कैसा व्यवहार होता है ?

अध्यापक महाशय वायोला के साथ सदा अतीव दया और

सुशीलता का बर्ताव करते रहे हैं। उसे उन्होंने कभी ऊँचा या कठोर शब्द नहीं कहा। सच पूछो तो, प्रत्येक "बुरा लड़का" और प्रत्येक "बुरी लड़की" इस लिए बुरी बन गई है, क्योंकि लोग व्यर्थ उन के काम में हस्तक्षेप करते है। पुराने ढर्रे के लोगों का मत है कि जो माता पिता और अध्यापक अपने बच्चों और शिष्यों पर दण्ड प्रहार नहीं करते वे उन्हें बिगाड़ देते हैं। परन्तु आधुनिक विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि यह कहने लगी है कि "छड़ी को नष्ट कर देने से ही बच्चा शिष्ट बन सकता है।" निस्सन्देह बुद्धि, दया, और स्वतन्त्रता ही ऐसी चीज है जो वास्तव में संसार का सुधार एवं संशोधन कर सकती है।

विधि

वायोला ने अपना सारा ज्ञान खेल के रूप में प्राप्त किया है। उस ने अपने जीवन में कभी किसी पाठ का "अध्ययन" नहीं किया। उसे कभी पुस्तक लेने के लिए नहीं कहा गया। उस का सारा जीवन एक रुचिर क्रीड़ा सा रहा है। अध्यापक महाशय ने एक बहुत ही मनोहर शिक्षा संबंधी यन्त्र का आविष्कार एवं निर्माण किया। इस के साथ बालिका में ज्ञान प्राप्ति के लिए रुचि उत्पन्न हो गई। इस यन्त्र के साथ परिवेष्टित कर देने के बाद बालिका को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाती है कि वह क्या और कब सीखे। इस विकल्प में निर्णेता सदा वही रही है, अध्यापक महाशय नहीं। वे

केवल इतना ही करते रहे हैं कि जिस दिशा में वे चाहते थे कि वह उन्नति करे उस के सीखने में वे उस की रुचि तथा उत्साह बढ़ा देते थे।

वायोला ने पढना कैसे सीखा

कुछ तो अपने को बहलाने के उद्देश्य से, कुछ पुस्तकों के लिए रुचि उत्पन्न करने के लिए, और कुछ पुस्तकों को उठाना और रखना सीखने के विचार से वायोला को उस की पहली पुस्तक तेरह मास की आयु में दी गई। इस के बाद शीघ्र ही वे उस का ध्यान चित्रों में चित्रित वस्तुओं की ओर खींचने लगे और उन के सम्बध में उन्हों ने उस को कई मनोरञ्जक बातें सुनाईं। थोड़े ही दिनों में वह इन सरल अभ्यासों में बहुत रुचि लेने लगी। वह शीघ्र ही पाठ लेने के लिए अपनी पुस्तक बार-बार उन के पास लाने लगी। जिस समय उन्हों ने उसे यह पुस्तक दी उसी समय उन्हों ने बैठने के कमरे में एक सुभीते के स्थान पर एक छोटा सा सुन्दर शेल्फ या पुस्तकाधार भी लगा दिया, और उसे कह दिया कि यह शेल्फ तुम्हारी नई पुस्तक के लिए, जिस समय तुम उस का उपयोग नहीं कर रही होगी, एक बहुत अच्छे पुस्तकालय का काम देगा। उस ने पुस्तक को उस पर रखने का पाठ बहुत आसानी से सीख लिया। सुव्यवस्था की शिक्षा में यह एक महत्त्वपूर्ण पाठ था।

अपनी पहली पुस्तक के साथ वह दो मास तक खेलती रही। इस के बाद वह उठा कर रख दी गई और एक दूसरे प्रकार की फर्स्ट रीडर या प्रथम पुस्तक उसे दी गई। इस का भी उस ने उसी प्रकार दो मास तक उपयोग किया। वह उन पुस्तकों के साथ बहुत खेली—कदाचित् दो से तीन घंटे तक रोज—खेलती थी। पहली पुस्तक का अगला भाग काफी फट गया है दूसरी केवल दो स्थानों में ही फटी हुई है। इन सरल अभ्यासों ने छोटी अवस्था में ही चित्रों और पुस्तकों के लिए दिलचस्पी उत्पन्न कर दी, पर्यवेक्षण के लिए रुचि जागृत कर दी, सावधानता एव स्मृति को विकसित कर दिया, मनोयोग को पुष्ट किया, उस के शब्द भाण्डार को बहुत बढ़ा दिया, और सुव्यवस्था एव सौन्दर्य का सम्मान करना सिखला दिया। वास्तव में उन्हों ने बहुत सी मानसिक शक्तियों के विकास का आरम्भ कर दिया।

सत्रह मास की आयु में वह प्रत्येक अक्षर की एक ध्वनि बता सकती थी, तब उस ने छोटे छोटे वाक्य पढ़ना सीखा, जिन को वह शीघ्र ही बोलना सीख चुकी थी। उन्हों ने इन वाक्यों को कार्डों पर छाप दिया, और उस ने उन को वाक्य विधि (सेण्टेन्स मेथड) से पढ़ना सीखा। तब वे शब्द विधि (वर्ड मेथड) का भी प्रयोग करने लगे। इस प्रकार उन्हों ने सभी विधियों का एक मनोहर ढग से प्रयोग किया—कभी वे एक को काम में लाते थे और कभी दूसरी को।

दो वर्ष और ग्यारह मास की आयु में वायोला अंगरेजी भाषा में किसी भी पाठ्य विषय को देखते ही, प्रभावोत्पादक उच्चारण के साथ, पढ सकती थी। अभी वह पूरे तीन वर्ष की भी न हुई थी कि वह जर्मन भाषा भी बड़ी उत्तम रीति से पढ लेती थी। तीन वर्ष और दो मास की आयु मे वह अंगरेजी, जर्मन, और फ्रेन्च पढती थी। स्कूली रीडरों की बाल्डविन पुस्तक माला में, पहली से लेकर छठवीं तक, कदाचित् एक भी ऐसा शब्द नहीं जिसे वह देखते ही जल्दी से नहीं पढ सकती।

जर्मन और फ्रेञ्च उस ने एक मात्र वाक्य विधि से ही पढना सीखा। वाक्य विचार का एक मान (यूनिट) है। हम वाक्यों के ही संकेतों में विचार करते हैं, शब्दों या प्रारम्भिक ध्वनियों में नहीं। इसी कारण से छोटे बच्चों के लिए वाक्य विधि ही सब से अधिक सुगम और चित्ताकर्षक है, शब्द विधि नहीं। यह कहीं उत्तम पाठ उत्पन्न करती है। नये वाक्य सीखने के स्थान में बच्चे को ऐसे वाक्य पढने सीखने चाहिएँ जिन को वह प्रति दिन वार्तालाप में शीघ्रता से बोलता है। इस ढग से पढना सुन कर, सुरम्य और सुगम हो जाता है।

संख्याएं और रङ्ग

बीस मास की आयु में वायोला सभी अङ्क पढ सकती और नौ रङ्ग—सफेद, काला और त्रिपार्श्व काँच में दिखाई देने

वाले सूर्य के प्रकाश के सात रंग—पहचान सकती थी। अध्यापक महाशय ने उसे अंक सिखाने के लिए, सुन्दर फलों पर बड़े-बड़े अंक लिख कर दीवार पर लटका दिए। जिस तख़्ती पर जो अंक लिखा था उस के अनुरूप उतने ही चमकीले पिन भी उस में लगा दिए गए थे। रंगों का ज्ञान कराने के लिए फलकों पर रंगीन फीते बाँध कर उन को, अंकों के फलकों के सदृश, दीवार पर लटकाया गया था। जब कभी बच्चे या अध्यापक महाशय का जी उन फलकों के साथ खेलने को करता था तब अंक या रंग का नाम ले कर उसे मँगाया जाता था। बच्ची जा कर उसी फलक को ले आती थी जिसे वह समझती थी कि अध्यापक महाशय ने मँगाया है। उन्हों ने पहले दो फलकों के साथ आरम्भ किया और फिर वे क्रमशः इन की संख्या को बढ़ाते गये। बाईस मास की आयु में वह १०० तक सारी संख्याएँ पढ़ सकती थी। तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में वह पद्मों तक की राशियाँ पढ़ना सीख गई। वह इस अवस्था में कई हलके रंगों (शेड और टिंएट) को भी खूब पहचानती है।

ड्राइङ्ग

जब वह एक वर्ष और नौ मास की थी तब वह निम्नलिखित को काली पट्टी या पेन्सिल के साथ कागज़ पर खड़ी रेखा, आड़ी रेखा, तिरछी रेखा, क्रास, सीढ़ी, और वृत्त खेंच सकती

थी—तब से उस ने और भी अनेक चीज़ें खेंचनी सीख ली हैं। तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में, वह अनुरोध करने पर, समतल रेखागणित (प्लेन ज्यामिट्री) में प्रयुक्त होने वाली प्रत्येक प्रकार की लकीर, सब प्रकार के त्रिभुज, गोला, वर्ग और त्रिभुजाकार छेदित घन-क्षेत्र (प्रिज़्म), सुण्डाकार स्तम्भ (पिरामिड) शङ्कु और उन के खण्ड, पेड़ों के पत्ते, और इसी प्रकार की अन्य अनेक चीज़ें खेंच लेती थी। ड्राइङ्ग सिखाने के लिए अध्यापक महाशय ने पहले उसे काली पट्टी पर सीधी लकीरें खींचना सिखाया और उन की स्थिति समझाई, फिर धीरे-धीरे त्रिभुज, चक्ररेखा इत्यादि अधिक असरल चीज़ें सिखाईं।

रेखागणित संबंधी आकृतियां

वायोला ने आकृतियाँ बहुत शीघ्र सीख लीं। वह अभी एक वर्ष और नौ मास की भी नहीं हुई थी कि चौंतीस आकृतियों में से प्रत्येक का नाम बता सकती और उठा कर ला सकती थी। पहले-पहल केवल तीन ही आकृतियाँ—वर्ग, वृत्त, और त्रिभुज—उस के सामने रखी गई थीं। जब वह इन को सीख गई तब क्रमशः उन में और आकृतियाँ बढ़ा दी गईं।

राष्ट्रीय पताकाएं

एक वर्ष और नौ मास की आयु में वायोला पचीस

रंगों के झंडों को जानती थी। सब झंडे एक पंक्ति में लगा देने पर वह जिस का भी नाम लो उसे पकड़ लेती थी। इन सब अभ्यासों में पहले थोड़े से आरम्भ करके धीरे-धीरे संख्या बढ़ाई जाती थी। उस की शिक्षा में किसी पाठ के लिए कोई विशेष समय नियत नहीं था, वरन् सदा जैसा जी चाहता था वैसा कर लिया जाता था। पाठकों को यह बात भूल न जानी चाहिए कि वायोला की सारी शिक्षा खेलमात्र थी। इन सब शिक्षा संबंधी विषयों में उसे सदा स्वतंत्रता प्राप्त थी।

हुए प्रायः प्रत्येक नाम को पढ़ सकती, और बन्द पुस्तक उस के हाथ में दे देने पर, कोई भी प्रसिद्ध भौगोलिक नाम एवं स्थान, उसे खोल कर, कुछ ही सेकण्डों में निकाल देती थी।

प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र

एक वर्ष और दस मास की आयु में वायोला, अच्छी और बुरी, प्रत्येक प्रकार की विचार-धारा को दिखलाने वाले, एक सौ से अधिक स्त्री पुरुषों के चित्रों को जानती थी। उसे शीघ्र ही इन चित्रों के साथ खेलने का शौक हो गया, और उस ने थोड़े ही समय में उन को पहचानना सीख लिया।

ये चित्र एक गत्ते की बनी हुई चौखट में, खुले तार पर, रखे गये थे। तब बच्चे से कहा जाता था कि उन में से अमुक उठा लाओ। पहले पाठ में, केवल दो ही चित्रों का उपयोग किया गया। तब जितनी जल्दी वह उन्हें पहचानना सीखती गई उतनी ही जल्दी उन की संख्या बढ़ा दी जाती रही।

बीज और पत्ते

वायोला अभी पूरे एक वर्ष और ग्यारह मास की नहीं हुई थी कि वह विभिन्न जाति के बत्तीस बीजों और पचीस प्रकार के पेड़ों के पत्तों को जानती और उन के नाम बता सकती थी। बीज छोटी छोटी बोतलों में बंद कर के एक साफ सुथरी संदूकची में इस ढंग से रखे हुए थे कि उन सब पर

राष्ट्रों के झंडों को जानती थी। सब झंडे एक पंक्ति में लगा देने पर वह जिस का भी नाम लो उसे पकड़ लेती थी। इन सब अभ्यासों में पहले थोड़े से आरम्भ करके धीरे-धीरे संख्या बढ़ाई जाती थी। उस की शिक्षा में किसी पाठ के लिए कोई विशेष समय नियत नहीं था, वरन् सदा जैसा जी चाहता था वैसा कर लिया जाता था। पाठकों को यह बात भूल न जानी चाहिए कि वायोला की सारी शिक्षा खेलमात्र थी। इन सब शिक्षा संबंधी विषयों में उसे सदा स्वतंत्रता प्राप्त थी।

भूगोल

भूगोल में उस ने पहले अमेरिका के संयुक्त राज्यों के प्रदेशों तथा स्टेटों का स्थान निर्देश करना और तत्पश्चात् उन के नाम सीखे। इस प्रयोजन के लिए जिस मान-चित्र का उपयोग किया गया उस में नाम न थे। एक वर्ष और नौ मास की आयु में वह किसी भी प्रदेश और स्टेट और उन की राजधानियों को संकेत से बता सकती थी। इस रीति से वह शीघ्र ही संसार के सभी देशों और उन की राजधानियों का स्थान-निर्देश करना और उन के नाम बताना सीख गई। तब उस ने महासागरों, झीलों, पर्वतों, नदियों और अन्तरीप आदि के नाम पढ़ना और उन का स्थान-निर्देश करना सीखा। तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में वह फ्राईस ज्योग्राफीस में दिए

हुए प्रायः प्रत्येक नाम को पढ सकती, और वन्द पुस्तक उस के हाथ में दे देने पर, कोई भी प्रसिद्ध भौगोलिक नाम एवं स्थान, उसे खोल कर, कुछ ही सेकण्डों में निकाल देती थी।

प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र

एक वर्ष और दस मास की आयु में वायोला, अच्छी और बुरी, प्रत्येक प्रकार की विचार-धारा को दिखलाने वाले, एक सौ से अधिक स्त्री पुरुषों के चित्रों को जानती थी। उसे शीघ्र ही इन चित्रों के साथ खेलने का शौक हो गया, और उस ने थोड़े ही समय में उन को पहचानना सीख लिया।

ये चित्र एक गत्ते की बनी हुई चौखट में, खुले तार पर, रखे गये थे। तब बच्चे से कहा जाता था कि उन में से अमुक उठा लाओ। पहले पाठ में, केवल दो ही चित्रों का उपयोग किया गया। तब जितनी जल्दी वह उन्हें पहचानना सीखती गई उतनी ही जल्दी उन की संख्या बढा दी जाती रही।

बीज और पत्ते

वायोला अभी पूरे एक वर्ष और ग्यारह मास की नहीं हुई थी कि वह विभिन्न जाति के बत्तीस बीजों और पचीस प्रकार के पेड़ों के पत्तों को जानती और उन के नाम बता सकती थी। बीज छोटी छोटी बोतलों में बंद कर के एक साफ सुथरी संदूकची में इस ढंग से रखे हुए थे कि उन सब पर

एक साथ दृष्टि पड़ सकती थी। पत्ते एक बड़ी पुस्तक में दबा कर रखे गये थे।

शरीर-शास्त्र और शरीर-व्यवच्छेद-विद्या

एक वर्ष और ग्यारह मास की आयु में वह नर-कङ्काल की प्रायः प्रत्येक अस्थि, और शरीर की सभी इन्द्रियों का निर्देश कर सकती थी। उस ने पहले जाँघ की हड्डी का, फिर भुजा की हड्डी का नाम लेना और स्थान-निर्देश करना सीखा। तीन वर्ष और साढ़े तीन मास की आयु में वह नर-कङ्काल की सभी अस्थियों के नाम पढ़ सकती और प्रायः उन सब का स्थान-निर्देश कर सकती थी। वह शरीर के बाह्य अंगों के नाम बता सकती, पढ़ सकती, और उन का स्थान-निर्देश कर सकती थी।

रेखाएं और कोण

जब वायोला एक वर्ष और ग्यारह मास की थी, तब वह रेखा-गणित में प्रयुक्त होने वाली बाईस प्रकार की रेखाओं और कोणों को जानती और देखते ही उन के नाम बता देती थी। ये रेखाएँ और कोण एक साधारण लिफाफे के डील के कार्डों पर खींचे गये थे। उस ने उन की पहचान और नाम उसी प्रकार सीख लिए जिस प्रकार उस ने चित्रों आदि के नाम सीखे थे।

संयुक्त राज्यों की मुद्राएं

तेईस मास की आयु में वह अमेरिका के संयुक्त राज्यों के सभी सिक्कों का नाम बता सकती और उन को पहचान सकती थी। उसे इन का ज्ञान सिक्कों को एक उथली रकाबी में रख कर कराया गया। पेनी और निकल से आरम्भ करके, ज्यों-ज्यों वह सीखती गई, क्रमशः अधिक मूल्य के सिक्के रखे गये। कभी उसे कोई सिक्का उठा कर देने को कहा जाता था, और कभी कोई सिक्का उठा कर उस से उस का नाम पूछा जाता था। इस रीति से उस ने एक को दूसरे से पहचानना तथा नाम बताना, और पर्यवेक्षण तथा वार्तालाप करना सीख लिया। जीवन के व्यावहारिक कामों में ये सब बातें बड़ी ही उपयोगी हैं।

परीक्षा

एक वर्ष ग्यारह मास और पचीस दिन की आयु में वायोला ने निष्पक्ष परीक्षकों की एक समिति (कुमारी वर्नालम्पकिन और कुमारी मार्था केम्बल, जो कि दोनों लेक सिटी, आईओवा के सार्वजनिक स्कूलों की सुयोग्य और सफल अध्यापिकाएँ हैं) के सामने परीक्षा पास की।

समिति ने मालूम किया कि यदि चित्रों या स्वयं वस्तुओं को उस के सामने लाया जाय तो वह २५०० संज्ञाएँ जानती है। उन्हों ने यह भी कूता है कि वह कम से कम ५०० संज्ञाएँ

और भी जानती है, जिन के चित्र या वस्तुएँ वे उस के सामने उपस्थित नहीं कर सकी। इस से उस आयु में उस की जानी हुई संज्ञाओं की संख्या २००० हो जाती है। एक समान्य प्रौढ़ मनुष्य अपनी दैनन्दिन बात चीत में इस संख्या से कहीं कम पदों का उपयोग करता है।

यह परीक्षा दो सर्वथा भिन्न-भिन्न रीतियों से की गई थी। पहली रीति में बहुसंख्यक वस्तुएँ या उन के चित्र वायोला के सामने रक्खे गये। तब एक-एक का नाम ले कर उसे उस को लाने के लिए अनुरोध किया गया। दूसरी रीति में कोई वस्तु या उसका चित्र उसे दिखला कर उस से उस का नाम पूछा गया। लग-भग आधा समय पिछली रीति का उपयोग किया गया, यद्यपि वह सूची के प्रायः सभी नामों का उच्चारण भली भाँति कर सकती थी।

विराम-चिह्न

दो वर्ष की आयु में उसे बाईस विराम-चिह्नों का ज्ञान था। ये कार्डों पर खेंच दिए गये थे और उन को उस ने चित्र आदि की तरह ही सीख लिया था। पाठक देखेंगे कि वायोला की सारी शिक्षा व्यावहारिक ज्ञान के रूप में ही हुई। इस से पूर्व कि बालक सोच-समझ कर पढ़ सके और शुद्ध रीति से लिख सके, उस के लिए इस ज्ञान का प्राप्त करना बहुत आवश्यक होता है।

वर्ण संयोग

जब बायोला पढ़ने लगी तो उस के थोड़े ही काल उपरान्त उस ने वर्णों के नाम सीखना और सुगम शब्दों के हिज्जे करना भी आरम्भ कर दिया। ये शब्द कार्डों पर मोटे अक्षरों में छापे गये थे। ये कार्ड मनोहर तख़्तियों के एक तल पर बनी हुई नाली में खिसक कर जा सकते थे। ये तख़्तियाँ दीवार पर लटकाई हुई थीं और इन में चिलगोज़े भरे हुए थे। जब बायोला कोई चिलगोज़ा लेना चाहती थी तो उसे एक तख़्ती, जिस पर एक विशेष शब्द लिखा रहता था, लाने के लिए कहा जाता था। (अध्यापक महाशय ने इन तख़्तियों का नाम चिलगोज़ों की बोतलें रख छोड़ा था।) यदि वह ठीक शब्द वाली तख़्ती लाती थी, वह पहले देख कर, फिर स्मृति से, और बहुधा ध्वनि से भी उस के हिज्जे कर लेती थी। इसी रीति से वह शीघ्र ही और सुखपूर्वक हिज्जे करना सीख गई, यहाँ तक कि तीन वर्ष की आयु में वह शब्दों की एक लम्बी सूची के हिज्जे कर लेती थी। उन में से अनेक शब्द बहुत कठिन भी थे, यथा—Vinegar, sugar, insect, viola, busy, Mamma, Rosalia, February, biscuit, Olerich, American, Nebrasta, Council, Pompeii, Mediterranean, इत्यादि।

फूल का विश्लेषण

वह फूलों को बहुत चाहती है। उन को तोड़ कर उन के भागों को जुदा-जुदा करने में उसे आनन्द आता है। यूमनकृत बॉटनी में दिए हुए सभी वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी नामों को वह देखते ही पढ़ सकती है। अध्यापक महाशय ने अनेक बार दर्शकों के हाथ में यह वनस्पति शास्त्र (बॉटनी) और स्टील रचित प्राणिशास्त्र (जूआलोजी) दे कर कहा है कि जो सज्जन इन दोनों पुस्तकों में से एक भी शब्द ऐसा निकाल देंगे जिसे देखते ही वायोला उस का उच्चारण न कर सके, उन्हें एक सुन्दर पुस्तक पारितोषिक में दी जायगी। आज तक कोई भी व्यक्ति ऐसा शब्द नहीं निकाल सका।

लिखना

लिखने का अभ्यास करने के पहले वायोला सुगमता-पूर्वक हस्तलेख पढ़ सकती थी। लिखने और ड्राइङ्ग का अभ्यास उस ने पहले ब्लैक बोर्ड पर ही आरम्भ किया। पहला वर्ण जो उसने लिखना सीखा वह छोटी (i) थी। इस के बाद उस ने e, u, t, j, n, b, इत्यादि सीखे। 'O.' पहला बड़ा (केपिटल) वर्ण था जो इस ने सब से पहले बनाना सीखा। तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में वह शब्द और संख्याएँ बड़ी शीघ्रता से लिखने लगी, लिखने के अभ्यासों को मनोरञ्जक बनाने के लिए

अध्यापक महाशय बहुधा बीच-बीच में मनोहर आलेख्य भी बना देते थे।

टाइप राइटिङ्ग

तीन वर्ष और बारह दिन की आयु में उसे पहले-पहल स्मिथ प्रीमियर टायप राईटर मिला, और इस के दो दिन बाद उसे इस का पहला पाठ दिया गया। थोड़े ही दिनों में वह मशीन में कागज रखना, कैरज को चलाना, कागज़ चढ़ाना, और दोनों हाथों के साथ सारे बोर्ड पर उँगली चलाना, सीख गई। वह "की" पर ऐसी दृढ़ता और समरूप से चोट करती है कि सभी वर्ण पूरे-पूरे और साफ साफ छपते हैं। तीन वर्ष साढ़े तीन मास की आयु में वह न केवल हस्तलेख और छपी हुई प्रति को ही देख कर वरन् प्रति के बिना भी बहुत अच्छी तरह से टाइप कर लेती थी।

दूसरे अनेक सद्गुण

तीन वर्ष तीन मास की आयु में वायोला अँगरेज़ी भाषा की सभी प्रारम्भिक ध्वनियाँ दे सकती और एक छोटे से अभिधान में शब्द ढूँढ़ सकती है। वह अमेरिका के संयुक्त राज्यों के प्रदेशों तथा स्टेटों के सप्ताह के, दिनों के, वर्षों के, मासों के और अन्य अनेक वस्तुओं के संक्षिप्त नाम पहचान और पढ़ सकती थी। वह विराम-चिह्नों का उपयोग खूब जानती थी। वह फ्रेञ्च और जर्मन का अँगरेज़ी में अनुवाद

करने में बड़ी निपुण, और ज्योतिषशास्त्र, भूगर्भविद्या, व्याकरण, भौतिक भूगोल, और इतिहास आदि में प्रयुक्त होने वाली वैज्ञानिक परिभाषाओं की एक बहुत बड़ी संख्या से परिचित थी। उस का मनोयोग, उस की स्मृति, उस का पर्यवेक्षण, उस की विवेक-शक्ति, उसका तर्क और समालोचक के रूप में उस का योग्यता, सब विस्मयोत्पादक है।

वायोला की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता की कई अवसरों पर सर्व साधारण में पूरी पूरी जाँच की जा चुकी है। वह अपना कार्य एक छोटी सी ऊँची रंगभूमि पर करती है। उसे शिक्षा-सम्बन्धी यन्त्रों की प्रदर्शनियाँ दिखाने का बड़ा शौक है। जब दर्शक लोग उस की प्रशंसा करते हैं तब वह बहुत प्रसन्न होती है। लोग प्रसन्न हो कर उपहार में उसे गुलदस्ते देते हैं।

लोग अध्यापक महाशय से पूछते हैं कि आप इस शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग से क्या सिद्ध करना चाहते हैं? इस का उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—

"मैं दिखलाना चाहता हूँ कि एक बच्चा, बहुत छोटी आयु में, अच्छा पाठक, पटु लेखक, बहुत अच्छा हिज्जे करने वाला, और पण्डित बन सकता है। निर्दयता और नियंत्रण की अपेक्षा दया और स्वतंत्रता कहीं अधिक अच्छे शिक्षा-सम्बन्धी परिणाम पैदा करती है, विद्या सीखने के लिए बल से नहीं, वरन् रुचि से उत्तेजना प्राप्त होनी चाहिए। बच्चा सब कुछ खेल

के रूप में सीखे; बच्चा चाहे कितना भी अधिक क्यों न सीखता जाय, जब तक वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, उसे कोई हानि नहीं हो सकती। अपेक्षाकृत छोटा बच्चा शरीर-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का प्रचुर ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रतिभा और चरित्र प्रायः सर्वथा जन्म के बाद होने वाली शिक्षा पर निर्भर हैं, और यदि परम्परा या जन्म से पूर्व पड़ने वाले संस्कारों पर कुछ है भी, तो बहुत थोड़ा और यदि प्रत्येक स्वस्थ बच्चे को रुचि, दया, और स्वतंत्रता की शैली से शिक्षा दी जाय तो उस का शब्द-भाण्डार इतना विस्तृत तथा उस की स्मरणशक्ति इतनी विस्मयोत्पादक होगी, और उस में अनेक ऐसे असाधारण उत्तम गुण आ जायेंगे कि देख कर आश्चर्य होगा।" अध्यापक महाशय का विश्वास है कि शिक्षा की उचित पद्धति से बच्चे आठ वर्ष की आयु को प्राप्त होने से पहले ही आजकल के सामान्य ग्रेजुएट से अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस के लिए उन्हें कोई आयास या यत्न नहीं करना पड़ेगा। वे खेल-कूद में ही इसे सीख लेंगे।

धन्य है वह देश जिस में ऐसे गुरु मिल सकते हैं, और धन्य हैं वे बालक जिन को ऐसी उत्तम पद्धति से शिक्षा-प्राप्ति का सौभाग्य मिलता है! राष्ट्रों की दौड़ में पिछड़े हुए इस भारत में तो न मालूम कितने सहस्र, बच्चे शिक्षकों को निर्दोष शिक्षा-पद्धति का शुद्ध ज्ञान न होने से और उन की मार-पीट से डर कर, ज्ञानामृत से वञ्चित रह जाते हैं।